# प्राचीन भारत में प्रतिनिधि शासन संस्थाओं की अवधारणा

## द्वितीय अध्याय

**वैदिक कालीन शासन और प्रतिनिधि संस्थाएं**

क. वैदिक साहित्य का सीमांकन

ख. वैदिक साहित्य का अन्तः साक्ष्य

ग. वैदिक 'गण' और 'संघ' शब्द का इतिहास

घ. वैदिक गणतंत्र

ड. वैदिक साहित्य में राज्य के प्रकार (राज्य, **स्वराज्य, भोज्य,** वैराज्य, पारमेष्ठय, जनराज्य, साम्राज्य)

च. वैदिक साहित्य में जनतंत्रीय राजतंत्र

1. राजा शब्द का अर्थ
2. राजा की स्थिति और व्यक्तित्व
3. राजा की उत्पति और चयन
4. राज्याभिषेक
5. शपथग्रहण समारोह
6. राजा का कार्य–क्षेत्र
7. पदत्याग
8. कर–नीति
9. निजि तंत्र और प्रतिनिधि संस्थाएं

छ. वैदिक साहित्य में प्रतिनिधि शासन–संस्थाएं

1. प्रतिनिधि संस्थाओं के स्रोत और पूर्व रूप
2. प्रतिनिधि शासन संस्थाएं : सभा और समिति
3. वैदिक कालीन अन्य संस्थाएं : (पोर , जनपदः, **विदथः संस्था** , इडा, सरस्वती, भारती)
4. वैदिक संस्थाओं की निगति

# द्वितीय अध्याय

## वैदिक कालीन
## शासन और प्रतिनिधि संस्थाएँ

प्राचीन विश्व में भारतीय वैदिक संस्कृति के साहित्यिक ग्रन्थ सर्वाधिक प्राचीन है। जिनके आधार पर वैदिक आर्यों की राजनीतिक स्थिति और संस्थाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। इनके आधार पर यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारत में जनतंत्र का उदय पहले और राजतंत्र बाद में स्थापित हुआ। इसके विपरीत पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार राजतंत्र का आगमन पहले हुआ और जनतंत्र बाद में विकसित हुआ। यूनानी एथेन्स–स्पार्ट नगर राज्यों में भी जनतंत्र की स्थापना छठी शताब्दी ई० पूर्व के प्रथम दशक में मानी गई है।[1] जबकि भारत में जनतांत्रिक शासन के बीज हमें ऋग्वेद में दिखाई देते है। ऋग्वेद कि प्राचीनता को लेकर भी विद्वानों में मतभेद हैं। इनमें डॉ॰ आचार्य बलदेव उपाध्याय ने प्रमाणित सामग्री के आधार ऋग्वेद का काल 3500 ई० पू० सिद्ध किया है।[2] जनतंत्रात्मक शासन का अस्तित्व वैदिक साहित्य में स्पष्ट दिखाई देता है अपितु वैदिक साहित्य में तो राज्य का केवल जनतंत्रीय रूप ही मिलता है।[3]

वैदिक काल के पूर्व काल में भारत की राजनीतिक दशा और प्रतिनिधि संस्थाओं के बारे में जानकारी का कोई भी स्पष्ट प्रमाण अब तक उपलब्ध नही है। जिसके आधार पर भारतीय राज्य व्यवस्था और प्रतिनिधि संस्थाओं का प्रारम्भ वैदिक काल स जाड़ दिया गया है। ऋग्वद मे जिस शासन तत्र का संकेत मात्र मिलता है वही कुछ समय बाद महाभारत काल मे मूलतः विद्यमान है।

ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए गण, संघ और जन जैसे पारिभाषित शब्द आगे-चलकर गणतंत्र, संघराज्य और जनतन्त्र के रूप में विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार के शब्दों का उत्तर–वैदिक काल में रूपक शैली में प्रयुक्त होना। यह सिद्ध करता है कि वैदिक शासन तन्त्र देश काल से प्रभावित होकर अपना स्वरूप बदलता रहा। यही बात हमें स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य आदि राज्यों के संबंध में एवं सभा–समिति, विदथ,

इहा, सरस्वती और भारती आदि संस्थाओं के बारे में समझने की आवश्यकता है। इस प्रकार से वैदिक और उत्तरवैदिक कालीन शासनतन्त्र, राज्य एवं संस्थाओं आदि का स्वरूप इस अध्याय में स्पष्ट किया जाएगा। इसके साथ यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वैदिक काल मे प्रतिनिधि सस्थाओं का रूप क्या था।

## (क) वैदिक साहित्य का सीमांकन

वैदिक राजनीतिक सिद्धान्तों के परिचय हेतु हमें आज केवल एक साधन मात्र उपलब्ध है, वह है वैदिक साहित्य। इसलिए वैदिक शासन तन्त्र के अध्ययन हेतु वैदिक साहित्य का विधिवत् अध्ययन और सीमांकन करना अनिवार्य है। वैदिक साहित्य का प्रारम्भ ऋग्वेद से माना जाता है। वैदिक साहित्य भारतीय आर्यों के जन–जीवन के वृतान्त का आदि साहित्य है। इसी विशालकाय एवं अति गहन साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रसग मे दिया जाएगा।

वैदिक साहित्य मुख्यतः चार भागो में विभाजित है, जो संहिता भाग, ब्राह्मण भाग, आरण्यक भाग और उपनिषद् भाग कहलाते हैं। संहिता भाग–वैदिक साहित्य के मन्त्र भाग को संहिता भाग कहते हैं। संहिताएँ चार है जो ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता के नाम से लोक प्रसिद्ध हैं। इन संहिताओं के रचनाकाल से सम्बन्धित समस्या का अब तक कोई समाधान नहीं हुआ है। इनके बारे में विद्वानों का मत है कि सर्वप्रथम वेद एक ही था परन्तु कुछ समय के उपरान्त विषयानुसार उसके चार भाग किये गये और फिर इन्हें चार संहिताओं का रूप दिया गया। ये चार संहिताएँ साधारण वर्ग के लोगों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हुई। यज्ञ की दृष्टि से इनके क्रमशः चार ऋत्विज होते हैं– होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। यज्ञ में देवताओं का आवाहन करने वाला होता, यज्ञ का विधिवत् सम्पादन करने वाला अध्वर्यु, मंत्रों का सस्वर पाठ करने वाला उद्गाता और यज्ञ कर्म का सांगोपांग निरीक्षण करने वाला ब्रह्मा कहलाता है।[4]

प्राचीन वेदों की शाखाओं के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यक ग्रन्थ भिन्न–भिन्न है। जैसे ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय और कौशीतकि हैं। ऐतरेय

ब्राह्मण ग्रन्थ में अध्यायों के समूह को पंचिका कहा गया है जो संख्या में आठ हैं। कौशीतकी ब्राह्मण ग्रन्थ में तीस अध्याय हैं। ऐतरेय ब्राह्मण इतरा के पुत्र ऐतरेय महिदास के नाम से सम्बद्ध है। यजुर्वेद भी दो रूपों में पाया जाता है-- कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के इन दो पृथक रूपों के अनुसार उनके ब्राह्मण तैतिरीय और शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ है। सामवेद के तीन ब्राह्मण इस समय उपलब्ध है। सामवेद के ये तीन ब्राह्मण ताण्ड्य महाब्राह्मण, षडविंश ब्राहाण और जैमिनीय ब्राहाण हैं। अथर्ववेद का केवल एक ब्राह्मण ग्रन्थ है। यह गोपथ ब्राहाण है। यह ग्रन्थ अन्य की अपेक्षा अधिक प्राचीन नही है।

वैदिक आरण्यक ग्रन्थों से भी तत्कालीन लोगों के सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक रीति–रिवाजों, परम्पराओं की जानकारी मिलती है। ऋग्वेद का आरण्यक उसके ब्राह्मण के समान ही पृथक आरण्यक है। इसका केवल एक आरण्यक उपलब्ध है जो कौशीतकी आरण्यक के नाम से विख्यात है। इसी प्रकार से यजुर्वेद के, कृष्ण और शुक्ल भेद के अनुसार, आरण्यक भी पृथक् है।

वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग उपनिषद साहित्य कहलाता है। उपनिषदों की संख्या की सूची बड़ी लम्बी है परन्तु इनमें मुख्य दस उपनिषद् हैं। ये दस उपनिषद् ईश, केन, प्रश्न कठ, मुण्डक, माण्डुक्य, ऐतरेय, तैतिरीय, छान्दोग्ण और बृहदारण्यक है। मुक्तिकोपनिषद् में इनकी संख्या 108 बतलायी गई है। ऋग्वेद की प्रमुख उपनिषद् ऐतरेय है। कृष्ण यजुर्वेद की चार उपनिषद बतलायी जाती है। वे हैं कठ, श्वेता–श्वतर, तैतिरीय और मैत्रायणी। इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद की ईश और बृहदारण्यक नाम का उपनिषद् हैं। केन और छान्दोग्य ये दो सामवेद के उपनिषद है। अथर्ववेद की तीन उपनिषदें हैं। ये तीन उपनिषदे मुण्डक, प्रश्न और माण्डूक्य है। यद्यपि विभिन्न उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है परन्तु कुछ विद्वान इस मत पर सहमत हैं कि प्रमुख उपनिषदो की रचना भगवान् बुद्ध के आर्विभाव से पहले हो चुकी थी।[5]

वेदांग साहित्य को भी वैदिक साहित्य के अन्तर्गत माना गया है। वेदों के छः अंग हैं जिनका उल्लेख पाणिनी शिक्षा मे इस प्रकार है :–

छन्द : पादो तु वेदस्य हस्तो कल्पोस्थ पठ्यते
ज्योतिषामयनं चक्षु निरूक्त श्रोत्रमुच्यते
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुंख व्याकरणं स्मृतम
तस्मात् साग्मधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते।

इसका सरलार्थ इस प्रकार है कल्प उसके हाथ है, ज्योतिष शास्त्र उसके चक्षु हैं, निरूक्त उसके कान हैं, शिक्षा उसकी नासिका है और व्याकरण उसका मुख है। इसलिए वेदों का सांगोपांग अध्ययन करने पर ही व्यक्ति को असाधरण प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है।[6]

हमारे विवेच्य विषय का सम्बन्ध मुख्यतः तीन वेदांगों से ही है – कल्प, निरुक्त और व्याकरण। कल्प का स्थान सूत्र ग्रन्थों में आता है, इसलिए कल्पसूत्र के साथ–साथ गृहयसूत्र और धर्मसूत्र का भी संग्रह हो जाता है। वैसे कल्पसूत्र दो प्रकार हैं – श्रोतसूत्र और स्मार्त सूत्र।

धर्म सूत्रों में धार्मिक नियम, प्रजा तथा राजा के कर्तव्यों की मींमांसा है। इन ग्रन्थों में चारों वर्णों और चारो आश्रमों का वैज्ञानिक वर्णन प्राप्त होता है। कुछ समय बाद स्मृति ग्रन्थों को जन्म देने वाले ये धर्मसूत्र ग्रन्थ ही हैं। वेदों से सम्बद्ध इन सूत्रग्रन्थों के भेद–प्रभेद लगभग पचास हैं जिनका उल्लेख करना यहीं उचित नहीं है।

पुराणों के सम्बन्ध में एक अन्य बात यह भी है कि अथर्ववेद (11,7,24) के अनुसार पुराण साहित्य की उत्पत्ति भी वैदों के साथ–साथ ही मानी गई है। वास्तव में पुराणों को प्राचीन भारतीय ज्ञान–विज्ञान, भूगोल–खगोल, मुद्राशास्त्र आदि विधाओं का विश्वकोष कहना चाहिए। इसी प्रकार धर्म और देवताओं का जो विस्तृत उल्लेख पुराणों मे हुआ है उससे वेदो की अनेक समस्याओं का समाधान विद्वानों ने किया है।

राजनीतिक दृष्टि से भी राजनैतिक पद्धति को धर्म और नीति के सहारे दिखाने में पुराणों का बहुत बड़ा हाथ है। राजनीति के शास्त्र न होने पर भी पुराणों को राजनीति के दुर्लभ उदाहरणों के रूप में मानना पड़ता है। अट्ठारह पुराणों की बात अगर छोड भी दी जाए, तब भी अट्ठारह महापुराणों के प्रतिपाद्य उपर्युक्त कथन की प्रमाणिकता के लिए पर्याप्त है।

पुराणों की रचना एक निश्चित काल में नही हुई। इनका उल्लेख अथर्ववेद, उपनिषदों आदि वैदिक ग्रन्थों में आता है। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य के इन ग्रन्थों में जो वैदिक पारिभाषिक पदावली, संस्थाओं, पद्धतियों, परम्पराओं आदि का जो प्रयोग एवं उल्लेख है उनका वास्तविक अर्थ एवं उनके वास्तविक स्वरूप का बोध कर लेना एक कठिन कार्य है।

## (ख) वैदिक साहित्य का अन्तः साक्ष्य

प्राचीन भारतीय वैदिक साहित्य में अन्तः साक्ष्यों पर विचार करते हुए इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि वैदिक साहित्य से हमें राजनैतिक क्षेत्र के अलावा धार्मिक क्षेत्र की भी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इन साहित्यिक ग्रन्थों से धर्म के साथ–साथ राजनैतिक जीवन की भी बराबर जानकानी मिलती है। इसका अर्थ है कि प्राचीन काल में शासक वर्ग के लोगों ने धार्मिक ग्रन्थों की रचना पर अधिक बल दिया, इन्हीं में प्रशासन पद्धति का वर्णन किया गया। इन ग्रन्थों में जो प्रशासनिक उल्लेख प्राप्त होता है उसके आधार पर निश्चय ही यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासन–पद्धति सार्वजनिक कल्याण की भावना को प्रधान मानने वाली थी, इसलिए शासन की वह निरंकुशता जो पश्चिमी शासन तन्त्र की शताब्दियों तक समस्या बनी रही, वह प्राचीन भारत में दिखाई नही देती। प्राचीन भारत में धर्म–विधि कि प्रधानता थी, जिसके आधार पर वैराज्य जैसी स्थिति मे भी भारतीय समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित रही थी। इसलिए राजनैतिक संगठनों का संकेत यहाँ धार्मिक और सामाजिक रूपकों और प्रतीक शैली के रूप में किया गया है।

वैदिक साहित्य में ये राजनैतिक संकेत उत्तरोत्तर काल में परिवर्धित और स्पष्टतर होते हुए, परवर्ती युगों में पूरी तरह संविधान के रूप में प्रकट हुए हैं। यही कारण है कि हमने प्रतिनिधि शासन संस्थाओं का विचार ऋग्वैदिक और उत्तर–वैदिक दो खण्डों में अलग–अलग वर्णित न करके समूचे वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में एक साथ करना अधिक न्यायसंगत समझा है।

वैदिक साहित्य की इस अन्तः साक्ष्यता के सम्बन्ध में एक प्रमुख अन्तर यह

है कि यहां जनतंत्रात्मक राजतन्त्र का बहुत बड़ा इतिहास देवजाति के शासनतन्त्र के रूप में मिलता है जो आर्यों की काल्पनिक सृष्टि का परिणाम है और इसीलिए इतिहासकारों को यह सिद्ध और स्पष्ट प्रतीत होता है। देवताओं की कल्पना के साथ उनके राज्य की परिकल्पना भी देवलोक के रूप में कर ली गई। अमरावती नाम से उनकी राजधानी और सुधर्मा नाम से उनकी राज्यसभा भी अभिहित की गई है। देवताओं के राजा के रूप में एक तेजस्वी व्यक्ति का चुनाव किया जाता था। वैदिक साहित्य में इन्द्रासन के चुनाव का उल्लेख आता है कि जो व्यक्ति अपनी त्याग–तपस्या से इन्द्रासन को हिलाने की योग्यता रखता है वह इस आसन को ग्रहण कर सकता है। ऋषि–मुनियो के लिए भी यह प्राथमिक योग्यता मानी गई थी जिससे शासनारूढ़ इन्द्र आशंकित हो जाता था। इसलिए वैदिक काल में गन्धमादन, रैम्य आदि अप्सराओं के द्वारा तपोभ्रष्ट होना या तपोभ्रष्ट करने का प्रयत्न करना काफी प्रसिद्ध है।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि कालान्तर में किसी का सत्याचरण भी शासनारूढ इन्द्र को परेशान कर सकता था। हरिश्चन्द्र की सत्याचरण कथा इसका स्पष्टतम उदाहरण है।[7] इसका अर्थ यह है कि किसी भी त्याग–तपस्या या नेक चलनी से इन्द्र के धैर्य के लोप होने की कथाएं वैदिक साहित्य में ही नही परवर्ती लोक–काव्यों म भी विद्यमान है। राजा नहुष के द्वारा इन्द्रासन की प्राप्ति की कथा और फिर उसके पतन का इतिहास इस बात पर अच्छी तरह प्रकाश डालता है।

इन्द्रासन के सम्बन्ध में देव और ऋषि लोग मिलकर फैसला करते थे जो इस बात का प्रमाण है कि श्रेष्ठ मनुष्यों का भी प्रतिनिधित्व देवसभा में होता था।"मान्धाता के द्वारा इन्द्र का आधा राज्य जीत लेना, देवासुर संग्राम में इन्द्रासन की रक्षा के लिए दशरथ, ययाति, दुष्यन्त आदि राजाओं का जाना भी यही सिद्ध करता है कि देव और मानवजाति मूलतः अलग–अलग नही थे, बल्कि मनुष्यों की ही एक विशिष्ट और श्रेष्ठ श्रेणी को देवता नाम से व्यवहृत किया जाता था।"[8] इसका तात्पर्य है कि देवों के गण, उनके राज्य और सभा–समिति आदि का जो वर्णन वैदिक साहित्य में प्राप्त है। वह सातवें आसमान की बात न होकर मानव–जाति की ही एक विशिष्ट श्रेणी के शासन

तन्त्र का इतिहास है और इनकी राजनीति धार्मिक नीति का या नैतिक धर्म का ही एक अग थी। फलस्वरूप जो कुछ भी यहाँ राजतंत्र का रूप दिखाई पडता है वह नियमित रूप से जनतंत्रात्मक ही है।

अंतः साक्ष्य की प्रमाणिकता में दूसरी समस्या वैदिक साहित्य की रूपक पद्धति ने खडी की है। यह रूपक पद्धति साहित्य की दृष्टि से जितनी रहस्यपूर्ण है, ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अधिक दुविधाजनक है। रूपक पद्धति के तीन प्रकार हैं :– सामान्य रूपक, रूपकातिशयोक्ति और रूपकचित्र। इनका प्रयोग वैदिक साहित्य में रहस्यमय ढंग से किया गया है।

रूपकचित्र को अंग्रेजी में एलैगोरी कहा जाता है इसमें किसी वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप ही नहीं होता, अपितु प्रतीक के अंगों और गुण धर्मों का दोनों पक्षों में प्रसंगोपयोगी भी रहता है। वेदों में सभा और समिति को प्रजापति की दो पुत्रियो के रूपक मे प्रकट किया गया है। प्राचीन काल में प्रायः पुत्रियाँ गायों का दोहन करती थी। यह रूपक अपने अर्थों में समिति और पुत्रियाँ दोनों के गुण धर्मों का श्लेष पद्धति से लम्बा चित्रण करता है जैसे पुत्रियाँ परिवार और समाज के पालन–पोषण के लिए दूध का दोहन करती है उसी प्रकार समिति भी प्रजा की भलाई के लिए नई–नई बातों पर विचार करती थी। इसी प्रकार समिति के महान् अग्नि के रूप में लम्बे चित्रण से यह सिद्ध किया गया है।[9] यहाँ पर अग्नि का कार्य शुद्धिकरण का है उसी प्रकार समिति का कार्य भी राज्य और जनता को शुद्ध शासन प्रदान करना है।

इस प्रकार के सौ से अधिक रूपकचित्रो से शासनतंत्र की जनतांत्रिक या प्रतिनिधि पद्धति का चित्रण हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। इन्हें अच्छी तरह समझ लेने के बाद ही वैदिक साहित्य के अन्तः साक्ष्यों की प्रमाणिकता निःसन्देह दुविधारहित हो जाती है।

## (ग) वैदिक 'गण' तथा 'संघ' शब्द का इतिहास

वैदिक साहित्य से हमें प्राचीन शासनतंत्र से सम्बन्धित अनेक शासन प्रणालियों की जानकारी मिलती है। डॉ॰ के॰ पी॰ जायसवाल ने प्राचीन भारत में दो शासन

व्यवस्थाओ का उल्लेख किया। उनके अनुसार हिन्दू साहित्य की जैन शाखा के आचारांग सूत्र में मुझे "दोरज्जाणि" और "गणरायाणि" शब्दों का उल्लेख हुआ है।[10] दोरज्जाणि वे राज्य थे जिनमें दो राजा शासन करते थे। इसी प्रकार गणरायाणि वे राज्य थें जिनमें गण या समूह का शासन होता था।

गण का उल्लेख 'ऋग्वेद' में छियालीस बार, 'अथर्ववेद' में नौ बार और ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक बार हुआ है।[11] इसके विपरीत वैदिक साहित्य संघ शब्द का उल्लेख नही मिलता। संघ शासन प्रणाली का उल्लेख उत्तर–वैदिक काल में प्राप्त होता है। 'गण' और 'संघ' शब्द के अर्थ के बारे में विद्वानो का विचार है एक से अधिक मिलकर जो लोग राज्य या शासन–कार्य चलाते थे वे गण कहलाते थे और उनका शासनतंत्र गणतंत्र कहलाता था। इससे आगे एकाधिक राज्यों को मिलाकर शासन चलाने वाला गण श्रेष्ठों का समूह संघ कहलाता था एवं उनका शासन तंत्र संघ राज्य कहलाता था। इस प्रकार के अर्थ स्पष्टीकरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गणराज्य की दशा से गुजरने के बाद ही संघराज्य बनता है अथवा गणराज्य का विकसित रूप संघराज्य है। इसीलिए विद्वानों ने वैदिक गणों का विचार करते हुए 'संघ' शब्द का प्रतिपादन नही किया और संघ शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ को भी 'गण' शब्द के अर्थ से गतार्थ मान लिया है।

'गण' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों मे अनेक रूपों में मिलता है। गण शब्द के अर्थ को लेकर अनेक विद्वानों ने अपने विचार दिए हैं। अधिकांशतः इनका निर्वाचन 'सभा' या 'सेना' के अर्थ में अनेक बार किया गया है। फ्लीट ने मालवगण की व्याख्या करते समय गण का अनुवाद जनजाति किया। जायसवाल ने इसका अनुवाद सभा या "सभा द्वारा शासन" किया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि वैदिक ग्रन्थों में मरूतों का उल्लेख बार–बार गण के रूप में हुआ है।[12] क्योंकि सभी मरूत रूद्र के पुत्र थे, इसलिए यहां गण शब्द को एक जनजातीय इकाई के अर्थ में प्रयुक्त हुआ माना जाएगा।

पूर्व वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य में गण के उल्लेखो के अध्ययन से

प्रकट होता है कि यह मुख्य रूप से भारतीय आर्यों का एक प्रकार का जातीय संगठन था। यहाँ पर यह सोचना उचित न होगा कि किसी समान पूर्वज के पुरूषवंशानुक्रम से निकले परिवारों के समूह का सूचक लैटिन शब्द 'जेंस' और ग्रीक शब्द 'जनोस' संस्कृत के गण शब्द के भारोपीय पर्याय हैं।[13] गण शब्द 'जन' धातु से जिसका अर्थ प्रजनन् होता है, व्युत्पन्न नही माना जा सकता, इसकी उत्पत्ति 'गण' धातु से हुई है, जिसका अर्थ गिनना होता है। शाब्दिक रूप से यद्यपि 'गण' का अर्थ जनजाति नहीं, अपितु ऐसे लोगों का क्रमिक समूह है और इन लोगो का एक ही जनजाति का होना जरूरी नहीं है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य में अधिकांश स्थलों पर यह जनजातीय संगठन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

'गण' और 'संघ' शब्द की उत्पत्ति के बारे में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानो ने गण से सघ की उत्पत्ति बतलाई है जबकि विद्वानों की इस धारणा के पीछे कोई न कोई तर्क तो होगा ही कि-संघीय शासन प्रणाली का इतिहास बहुत ही पुराना है।[14] साधारण शब्दों मे, यह आदिकाल से चली आ रही है, क्योंकि संघीय शासन प्रणाली का कोई विस्तृत विवेचन वेदों में उपलब्ध नहीं है, इसलिए यह भी कहा जाता है कि इस प्रणाली का काल 500 ई० पू० से लेकर 600 ई० पू० तक था। 'गण' और 'संघ' ये दोनों शब्द भारत के प्रशासनिक क्रम आगे-पीछे प्रयुक्त हुए हैं।

'गण' और 'सघ' शासन प्रणाली प्राचीन भारतीय जनतत्र से सम्बन्धित रही है। शब्दार्थ की दृष्टि से तो गण और सघ शब्द का एक समान अर्थ है। 'गण' शब्द 'गण संख्याने' धातु से अच् प्रत्यय लगने पर बनता है जिसका अर्थ समूह है। इसी प्रकार 'संघ' शब्द सम उपसर्ग के साथ 'हन् हिसागत्यो' धातु से अप प्रत्यय लगकर बनता है। परन्तु इन दोनों में पारिभाषिक अर्थ अलग-अलग है। जिसको लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। 'गण' शब्द के अर्थ को लेकर एक विवाद यह है कि मोनियट विलियम्स की संस्कृत डिक्शनरी में गण शब्द का अर्थ ट्राईब अर्थात कबीले के रूप में दिया गया। मोनियट विलियम्स के इस अर्थ का आधार रोम की गेन्स और गैण्टीज एवं

ग्रीस की गैनोज जाति के इतिहास पर टिका हुआ था,[15] इसलिए मोनियट ने 'गण' की व्याख्या इससे मिलते–जुलते शब्द ट्राईब से की है। इस विचारधारा को आगे बढ़ाने में पाश्चात्य विद्वानों में डॉ. फ्लीट का नाम अग्रणी रहा है। फ्लीट ने भी 'गण' शब्द का अर्थ एक ट्राईब से जोड़ा है। इसके अलावा ब्यूलर ने "व्यापारियों अथवा कारीगरों आदि का संघ या सभा" से किया है।[16] एक अन्य पश्चिमी विद्वान जौली के अनुसार 'गण' शब्द की व्याख्या ऐसैम्बली के रूप में की गई थी। इस प्रकार से 'गण' शब्द कि इस भ्रामक विचारधारा का आधार पश्चिमी विद्वानों के मत थे और पारिभाषिक अर्थ तक पहुँचने वाले भी पश्चिम के विद्वान थे।

भारतीय विद्वानों में गण शब्द के अर्थ को लेकर किसी प्रकार की भ्रान्ति नही पाई जाती। भारतीय विद्वानों ने गण शब्द के प्रयोग के आधार पर सामान्य तथा पारिभाषिक दोनों अर्थों को स्पष्ट किया है। इसका सामान्य अर्थ साधारण लोगों का समूह आदि है, जिसके अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं की गणना की जाती है चाहे वे जीवित या निर्जीव हों। दूसरा अर्थ पारिभाषिक है जिसमें प्राणियों के संगठित समूह का बोध होता है तथा यह संगठित समूह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भी हो सकता है। वैदिक साहित्य मे इसका उल्लेख एक प्रशासनिक संगठन के रूप में हुआ है। यह आगे होने वाले विवेचन से स्पष्ट सिद्ध हो जाएगा।

वैदिक साहित्य से प्राप्त संकेतों से यह बोध होता है कि वैदिक गणों में स्त्रियों के भी गण होते थे। ध्यातव्य है कि इन अनुश्रुतियों में वर्णित अनेक गण मातृनाम धारण करने वाले हैं, जैसे :– आदित्यों का गण, आदिति से निकला था।[17] इसके बाद 'महाभारत' में स्कंद या कार्तिकेय के वर्णन में बताया गया है कि वह सात मातृगणों के साथ दैत्यों के विरूद्ध लड़ने गया।[18] यहाँ पर माताओ का शाब्दिक अर्थ ऐसी व्यस्क स्त्रियों से है जो लड़ाई में भाग ले सकती थी। पूर्ववैदिक साहित्य में विदथ के साथ स्त्रियों के संबंध होने का संकेत देने वाले सात उल्लेख हैं, लेकिन गण से उनका संबंध दिखाने वाला एक भी नहीं है।

गण प्राय आर्य संस्था थी। प्रारम्भिक अनुश्रुतियों में इसका प्रयोग देवों और

असूरों के लिए हुआ है। 'वायुपुराण' में देवगणों का वर्णन और नामोल्लेख है। आदिपर्व मे छः गणों का उल्लेख है जो इस प्रकार है–रूद्रों, साध्यों, मरूतो, वसुओ, आदित्यों और ग्रहयकों के गण। इसी प्रकार विधाधरों, अप्सरा, यक्ष, रक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच गुह्यक, सिद्ध और भूत इन दस देवयोनियों के भीतर गणों की खोज की जा सकती है।[19] सप्त ऋषियों को भी समूह अर्थ में गण ही कहा जाएगा।[20] नवदुर्गा (शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, काव्यायनी, कालरात्री, महागौरी, सिद्धिदाश्री), सप्त माताएँ (ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा)[21] स्त्रीगणों के रूप में परवर्ती साहित्य के अन्दर उल्लेखित है। महाकाव्यात्मक और पौराणिक उल्लेखों में इस संस्था (गण) का संबध शिव से जुडा देखने को मिलता है। इनमें शिव को गणाध्यक्ष कहा गया है, जिसके गण में स्कंद, भूत और स्त्रियां भी शामिल हैं।[22]

वायु पुराण में यक्षों, गंधर्वों, किन्नरों और विधाधरों के गणों का उल्लेख है, जिन्हें कश्यप की संतति कहा गया है। हमें दस हजार दैत्यों के सैंहिकेय नामक गण की भी जानकारी मिलती है।[23] इन गणों मे यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि कुछ महत्वपूर्ण व्यक्ति एक से अधिक की सदस्यता प्राप्त किये हुए थे। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्ठावी आदि गणों की सदस्यता इसी प्रकार की थी। यहाँ राजाओं के बीच बने हुए गण को राजक और क्षत्रियों के बीच बने हुए गण को राजन्यक कहा गया है।[24]

डॉ॰ आर॰ भण्डारकर ने वैदिकोत्तर गणों के उदभव के बारे में सामान्य ढंग से विचार किया है। उन्हें आर॰ सी॰ मजूमदार से सायण के भाष्य सहित 'बृहदारण्यक उपनिषद' के एक अवतरण का उल्लेख मिला। इसके आधार पर उन्होंने कहा है कि "इस निर्णायक अवतरण में ब्राह्मणों, क्षत्रियों या शूद्रों के नहीं, केवल वैश्यों के ही गणों का उल्लेख है।"[25] इसलिए यह कहा जा सकता है कि क्षत्रियों के राजनीतिक गणों की स्थापना के पूर्व हमारे देश में वैश्यों के बीच वाणिज्यिक गण विद्यमान थे। भण्डारकर के अनुसार पाणिनी के गण और 'संघ' शब्दों का प्रयोग किसी निश्चित उद्देश्य या कार्य के लिए संगठित व्यक्तियों के समूह के या संस्था के लिए किया है।[26] डॉ॰ के॰ पी॰ जायसवाल के अनुसार पाणिनी ने गण शब्द का प्रयोग जनतंत्रीय राज्य के लिए किया

है।[27] गण से संबंधित मजूमदार महोदय भी इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं।[28] पाणिनी की अष्टाध्यायी में इस सम्बन्ध मे विवादास्पद सूत्र दो है :– "संघो द्वा गणप्रशंसयों :" और "बहुपूगगणसंघस्यतिथुक"। पहले सूत्र का अर्थ है कि गण और प्रशंसा के अर्थ में संघ और उदध शब्द का क्रमशः प्रयोग होता है। इससे साधारणतय यह समझा जा सकता है कि गण और संघ परस्पर दोनों एक–दूसरे के पर्याय हैं। वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी इस मत का समर्थन किया है, दूसरे सूत्र का अर्थ है कि बहु, पूग, गण और संघ शब्द से तिथुक प्रत्यय लगता है जिससे बहुतिय, पूगतिय, गणतिय और संघतिय शब्द बनते हैं।

महाभारत नामक महाकाव्य मे 'गण' शब्द का उल्लेख लगभग पचास बार हुआ है और हर बार उसका अर्थ गणराज्य के आशय में निकलता है। अर्जुन ने उत्तर–भारत के सात गणराज्यों को जीता था।[29] इसी प्रकार कृष्ण को भीष्म ने समझाया था कि उन जैसे नीतिज्ञ को अग्रसेन का राज्य प्राप्त नहीं करना है क्योंकि इससे पारिवारिक सम्बन्धों में भेद उत्पन्न हो सकता था। इन सब उद्धरणों से इसी बात की पुष्टि होती है कि महाभारत के समय में 'गण' शब्द गणराज्य का ही प्रतिपादन था। गणों में एक गणमान्य व्यक्ति होता था जिसे गणाध्यक्ष की संज्ञा दी जा सकती है। गणाध्यक्ष के चुनने का आधार उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक कार्य कुशलता होती थी।[30]

बौद्ध साहित्य में भी 'गण' शब्द का प्रयोग गणराज्य के लिए भी हुआ है और धार्मिक संघ की प्रक्रिया के लिए भी प्रयोग हुआ है। गणराज कुलों के अभिषेक से गणराज्य की और गणबन्धन एवं गणपूरक जैसे शब्दों से संघीय प्रक्रिया का संकेत मिलता है। गणबन्धन जैसे शब्दों से गणों के संगठन की एकता पर भी प्रकाश पड़ता है।

जैन ग्रन्थों मे 'गण' शब्द का प्रयोग लोगो के समूह के लिए तथा राजनैतिक और अराजनैतिक दोनों ही रूपो में प्राप्त होता है। कल्पसूत्र (2,61) में भी गणनायकों का सैनिक समूह के रूप में किया गया वर्णन 'गण' शब्द के राजनैतिक –

प्रयोग की ही पुष्टि करता है। जैन धर्म में गणधर की धार्मिक संस्था प्रसिद्ध है। 'गण' शब्द का ऐतिहासिक अर्थ विचार है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति पर विचार–विमर्श करने वाले विद्वानों में अधिकतर विद्वानों ने संघ को गण का ही समानार्थक या पर्याय माना है। डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल व अन्य विद्वानो ने इसी आधार पर सघ को गण शब्द का पर्याय माना है। यह सामान्य अर्थ की दृष्टि से माना जा सकता है। पाणिनी का एक और सूत्र संघे चानोतराध ाये' है जो 'चि' धातु से धज् प्रत्यय उस संघ के अर्थ मे प्रयोग करता है जहाँ समूह की इकाइयों में पहले–पीछे की क्रम व्यवस्था न हो। इसीलिए यहाँ संघ शब्द का अर्थ प्राणियो का समूह किया गया है जहाँ प्रत्येक मानद इकाई समानभाव से ग्राहय है।

पारिभाषिक अर्थ में 'संघ' शब्द राजनैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के संगठनों से सम्बद्ध रहा है। इस दृष्टि से राजनैतिक संगठन के रूप में गण और संघ दोनों का समान अर्थ है। डॉ॰ डी० आर० भण्डारकर के अनुसार गण और संघ दोनों ही शब्द किसी निश्चित उद्देश्य से संगठित व्यक्तियों के समूह या उनकी संस्था का संकेत करते हैं। डॉ॰ जायसवाल इन्हें गणराज्य के रूप में स्वीकार करते हैं।[31]

डॉ॰ आर० सी० मजूमदार के अनुसार गण और संघ का अर्थ वह संस्था है जिसके कार्य और नियम वैधानिक होते है।[32] कुछ आगे चलकर इन्होंने इसका अर्थ प्रजातंत्र राज्य के रूप में किया है। डॉ॰ यू० एन० घोषाल ने गण और संघ शब्द के समूहवाचक सामान्य प्रयोग के अलावा इसका पारिभाषिक अर्थ राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक संस्था भी माना है।[33] इन सभी विद्वानों के यहां गण और संघ शब्दों के सामान्य अर्थ का भेद तो है जो गण शब्द को सामान्य समूह के रूप मे अलग–अलग करता है, परन्तु इन दोनों शब्दों के विशेषार्थ और पारिभाषिक अर्थ को लेकर कोई भेद नहीं है जो गण शब्द को भी राजनैतिक और अराजनैतिक सस्था के रूप मे स्वीकार करता है और संघ शब्द को भी इन्हीं दोनों अर्थों में मानता है। अतः दोनों के पारिभाषिक अर्थ–गणराज्य और संघराज्य के रूप में ही हमें ग्राहय हो सकते है।

महाभारत, बौद्ध साहित्य एव कौटिल्य अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि गण राज्य और संघ राज्य का परस्पर अंगागिभाव था। अनेक गणराज्यों के मिलने से संघराज्य बनता था, दूसरे शब्दों में संघराज्य के अन्तर्गत अनेक गणराज्य हुआ करते थे। महाभारत में भीष्म ने गणराज्यों के संघबद्ध होने की बात कही है[34]और कृष्ण को संघ मुख्य कहा है। बौद्ध साहित्य में चतुर्वर्ग भिक्षु संघ, पंचवर्ग भिक्षुसंघ आदि के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि यहां वर्ग शब्द का प्रयोग गण के अर्थ में हुआ है।[35] क्योंकि संघों का संगठन जो धार्मिक दृष्टि से था वह राजनैतिक रागठन का ही ऋणी था।[36] इसलिए गणो के मिलने पर सघ की कही–कहीं गणराज्यो के मिलने पर संघराज्य की बात समझ मे आती है। इसी प्रकार कौटिल्य ने भी राजशब्दोपजीवी संघ का उल्लेख किया जो अनेक राज्यों के मिलने पर बनता था।[37]इसके अध्ययन से यह बोध होता है कि गणराज्य और संघराज्य एक समान नही हो सकते। इस प्रसंग का विस्तृत वर्णन परवर्ती अध्याय में किया जाएगा और यह भी सिद्ध होगा की आज की शासन प्रणाली उससे किस प्रकार प्रभावित हुई है।

प्रस्तुत प्रकरण के अन्त में दो बातों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझा जाता है। इस प्रकरण के प्रारम्भ में गण और सघ शब्दों का ऐतिहासिक अर्थ पर विचार–विमर्श किया है। जो कि राजनैतिक दृष्टि से पारिभाषित माना जाना चाहिए इससे हमारा अभिप्राय है कि इन दोनों शब्दों से सम्बंधित जो साक्ष्य हमें उत्तर–वैदिक साहित्यिक ग्रन्थों में मिलते हैं उनका मूलतः रूप हम वैदिक साहित्य में समझ सकते हैं। कालक्रमानुसार और विस्तार पूर्वक न होने पर भी जो मौलिक स्रोतों का संकेत वैदिक साहित्य में विद्यमान है उसे समझने के लिए हमें इन स्रोतों की व्याख्या परवर्ती ग्रन्थों में दिखाई देती है और आगे भी दिखई देगी। इसका अर्थ है कि परवर्ती ग्रन्थों के माध्यम से इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसे अन्यथा सिद्ध न समझ कर मूलतः वैदिक साहित्य का ही व्याख्यान समझना चाहिए।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि वैदिक 'गण' और 'सघ' शब्द राजनैतिक संगठन के रूप मे कई बातों का संकेत करते है। कुछ विद्वानो ने इन्हें स्वायत

शासन वाली जन जाति या स्वशारित सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया है। डॉ० बी० के० सरकार के अनुसार गण शब्द पूरे जनसम्प्रदाय की शासन–प्रणाली के लिए आया है।[38] जौली जैसे विद्वानों के अनुसार ये दोनों साधारणतः विधान सभा का अर्थ रखते थे।[39] इस प्रकार हम वैदिक कालीन शासनतंत्र का विचार गण, संघ, सभा, समिति, राज्य और राजतंत्र आदि के प्रयोगों के आधार पर अलग–अलग करेंगे, जो प्रतिनिधि शासन संस्थाओं के रूप में जनतंत्र का विकासरूप होगा।

## (घ) वैदिक गणतन्त्र

अधिकांश भारतीय विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारत में प्रजातन्त्रात्मक–शासन व्यवस्था का प्रचलन था अर्थात वैदिक काल में जनतन्त्रात्मक शासन तन्त्र प्रचलित था। परन्तु यह व्यवस्था राजन्त्र के पूर्ववर्ती थी या अनुवर्ती थी इस संबंध में विद्वान एक मत नही है। डॉ० जायसवाल का मत है कि आरम्भिक काल में प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित हुई।[40] इसके विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि प्राचीन भारत में गणतन्त्रात्मक शासन का अस्तित्व था। आज अधिकांश विद्वान इस मत से सहमत हैं कि भारत मे सर्वप्रथम जनतंत्र का उदय हुआ और राजतंत्र उसका विकृत रूप था।[41] भारतीयों में जनतंत्र के प्रति भक्ति भावना आदिकाल से रही है और समय–समय पर इसे वास्तविक जीवन उतारते रहे हैं।

यह भी एक ऐतिहासिक सत्य है कि यहाँ का राजतंत्र भी प्रकृत्या जनतांत्रिक हो रहा है। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे कहा है कि वह महान गण का सेनानी और प्रधान राजा है। इस कथन को हम उसी प्रकार समझते हैं जैसे दशों दिशाओं में प्राची दिशा को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है।[42] प्राचीन काल में राजा को जबरदस्ती जनता पर थोपा नही जाता था। बल्कि प्रजा स्वयं अपनी आवश्यकता अनुसार राजा को चुनती थी। यह आवश्यकता भी युद्ध में नेतृत्व की दृष्टि से पैदा हुई ऋग्वेद में भी एक उल्लेख आया है कि एक बार कोई जन–वर्ग अपने शत्रुओं से पराजित हो गया तो उसने बैठकर राजा का चुनाव किया।[43] ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ से भी हमें यही बोध होता है कि युद्ध में नेतृत्व की आवश्यकता ने ही राजा का चुनाव कराया। अथर्ववेद के अनुसार समूचे

जनसमुदाय के द्वारा राजा चुना जाता था।[44] राजा का चुनाव करते समय उसके गुण–दोषों का विशेष ध्यान रख जाता था।

विभिन्न प्रमाण होने पर भी भारतीय गणतन्त्र शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसका एक कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य जनतन्त्रात्मक व्यवस्था के सर्वोच्य अधिकारी के लिए भी राजा शब्द का प्रयोग करता है। दूसरा वैदिक साहित्य ने राजा कि स्तुति करते समय उसे देवताओं के समान माना है।[45] विभिन्न लेखक इसे राजा के दैवीय अधिकारों का प्रतीक मानते हैं जबकि तथ्य यह है कि प्राचीन भारतीयों ने अधिकारों पर इतना अधिक बल नहीं दिया, जितना की कर्तव्यों पर दिया। इन समस्त कारणों से यह भ्रामक स्थिति बन जाती है कि प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था गणतन्त्रात्मक नही थी, जिसमे शासकों को जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता हो, बल्कि यह राजतन्त्रात्मक थी, जिसमें शासकों को एक जाति एवं वंश से निर्वाचित किया जाता था।[46]

महाभारत में विभिन्न राजतन्त्रीय राज्यों का उल्लेख मिलता है किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि तत्कालीन शासन व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। कालान्तर में राजा शब्द का प्रयोग सामान्यतः शासक के लिए किया जाता था। चाहे वह शासनतंत्र राजतन्त्रात्मक हो या गणतन्त्रात्मक, दोनों व्यवस्थाओं के बीच अन्तर केवल उनके संगठन को देखकर जाना जा सकता है। स्मृति ग्रन्थों में भी राजा के विभिन्न कर्तव्यो का उल्लेख किया गया है उनसे भी राजतन्त्र और गणतन्त्रात्मक शासकों का भेद स्पष्ट नहीं होता।

वैदिक गणतन्त्र वस्तुतः एक जनतंत्र का ही रूप था, यद्यपि इन दोनों के बीच एक साधारण अन्तर भी था जिस पर विद्वानों का मत है कि वैदिक शासन तंत्र के अन्तर्गत एक से अधिक व्यक्तियों के द्वारा मिलकर समान भाव से शासन करना ही गणतंत्र का प्रमुख लक्षण था, जिसका वैदिक साहित्य में यत्र–तत्र उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद में एक वर्णन मिलता है कि जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर सहयोग से रहते हैं और जहां देवता अग्नि के साथ रहते हैं उसे पुण्यलोक समझना चाहिए"।[47] यहां पर

रूपक पद्धति से कहा गया है कि क्षत्रिय रात्रि का और ब्राह्मण प्रकाश का प्रतीक है।

परन्तु प्रारम्भिक गणतन्त्र का स्वरूप ऐसा भी हो सकता है कि जिसमें एक ही जाति या वर्ण के लोग मिलकर शासन में हाथ बंटाते थे और अपने राजा को सहारा देते थे। इसी प्रकार की परम्परा के साक्ष्य हमें वैदिक साहित्य के बहुत बाद तक मिलते हैं। दक्षिणी भारत के केरल क्षेत्र में इसी प्रकार के गणतंत्र का उल्लेख विद्वानों ने किया है जिसमे चौसठ गावो के ब्राह्मण गण रूप से शासन–सदस्य बने हुए थे और जो अपने राजा का चुनाव बारह वर्षों के लिए करते थे।[18] इसी लिए यह समझना भी भ्रामक होगा कि भारत में गणतंत्र या प्रजातंत्र का प्रादुर्भाव उत्तर वैदिक काल में या बौद्धकाल में हुआ था।

यहाँ पर इस भ्रामक स्थिति का कारण यह है कि इन्होंने कुछ भारतीय विद्वानों ने वैदिक कालीन गणतंत्र राज्यों को और परवर्ती गणराज्य को एक ही समझ लिया है यहां पर यह जानना जरूरी हो जाता है कि वैदिक गणतंत्र के शासक या सदस्य मात्र कुल, जाति और इसी प्रकार के तबको के प्रतिनिधि होते थे जिनकी दिलचस्पी केवल गणतंत्र राज्य के चलाने में रहती थी। इसके विपरीत वेदोत्तर कालीन गण धीरे–धीरे जमींदारों या छोटे–छोटे राजाओं के रूप में विकसित होने लगे थे, जिनके सामने अपने–अपने छोटे राज्यों का महत्व था, क्योंकि इनके मिलने पर ही सम्बद्ध गणराज्य का रूप निकलता था, जिसके प्रति सभी लघु गणों की जिम्मेदारी बनती थी। गणों के इस अन्तर को समझने के बाद वैदिक गणतंत्रराज्य और परवर्ती गणराज्य की भेदक रेखा स्पष्ट हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि वैदिक कालीन गणतंत्र ही सच्चे जनतंत्र का रूप था जबकि विकृत रूप से विकसित वेदोत्तर कालीन गणराज्य अर्ध जनतंत्र का ही उदाहरण स्पष्ट करते हैं।

यहाँ पर हम वैदिक गणतंत्र या जनतंत्र का अन्तर आधुनिक जनतंत्र के साथ भी देख सकते हैं। आज के जनतंत्र मे प्रतिनिधित्व के आधार पर शासन और शासक का अन्तर स्पष्ट नही हो पाता। इसके विपरीत वैदिक गणतंत्र या जनतंत्र के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में सामंजस्य तब बैठता है जब

शासन की सभी इकाइयां स्वाभाविक रूप से ऋत के मार्ग पर अनुगमन करती है। जहां पर किसी का किसी से मतभेद या टकराव नही होता। इन तपस्वी ऋषी मुनियों ने ऋत की व्याख्या धर्म–विधि के रूप में करके शासनतंत्र क्षेत्र में भी भारत का अग्रणीत्व प्रतिपादित किया। धर्म–विधि की व्याख्या शासन तंत्र को ऋषि–मुनियों से प्राप्त हुई इसलिए इस व्यवस्था में राजाओं आदि का कोई स्वार्थ नहीं बनता था। इस प्रकार का शासन तंत्र मात्र सामान्य जनता के कल्याणार्थ होता था। यही कारण है कि भारत के प्राचीन जनतंत्र की तो बात ही क्या, यहां के राजतंत्र के अन्दर भी प्रजा के योगक्षेम का उदेश्य परम्परा–मान्य रहा है, इसी कारण से प्राचीन भारत के गणतंत्र और जनतंत्र के सामानान्तर राजतंत्र को भी बराबर की प्रतिष्ठा मिलती रही और उत्तर–वैदिक काल में धीरे–धीरे जनता की अभिरूचि राजतंत्र की ओर बढ़ती चली गई।

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में यह प्रार्थना की गई है कि "समिति की मन्त्रणा एक मुखी हो, सदस्यों के मत भी परम्परानुकूल हो और निर्णय भी सर्वसम्मत हो।"[49] यह सूक्त जिस समिति की ओर संकेत करता है वह एक गणतन्त्रात्मक समिति प्रतीत होती है। यद्यपि वेदों की शैली श्लेषात्मक है किन्तु फिर भी उसके आधार पर कुछ निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है। यह भी माना जा सकता है कि राज्य कि उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतन्त्र के रूप में हुई थी। बाद में ब्राह्मण साहित्य में भी कई गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। उसके आधार पर प्रो० अल्लेकर का कहना है कि "इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उत्तर–कुरू और उत्तर मद्र के 'वे राज्य' गणतन्त्र ही थे क्योंकि 'विराट' सम्बोधन उनके राजाओं का नही वरन् "नागरिकों" का है और अभिषेक राजा का नही जनता का होता था।[50]

वैदिक कालीन जनतंत्र पर डॉ० देवीदत्त शुक्ल का मत है कि "जनतंत्र में कुछ ऐसे दोष उत्पन्न हो गए थे जिनका निवारण करना जनहित में था और उन दोषों को दूर करने पर जो परिवर्तन हुआ, उसके कारण परिवर्तित स्वरूप राजतन्त्र का रूप बन गया।"[51] ऋग्वैदिक काल में अंत तक आते–आते अन्य प्रकार के जनजातीय गणतंत्रों से भी हमारा परिचय होता है। भारतीय गणतंत्र के बारे में डॉ० जायसवाल का यह मत है कि गणतन्त्र पूर्व–वैदिक युग के बाद और राजतत्र के काफी पश्चात् आया। यह

क्षेत्रीय ओर वर्ग विभाजित वैदिकोत्तर गणतन्त्रों के बारे में सही हो सकता है। लेकिन प्रारम्भिक जनजातीय गणतंत्रों के सन्दर्भ में नही।[52] शासन पद्धतियों के वर्गीकरण का सबसे पहला और सफल प्रयत्न ऐतरेय ब्राह्मण में देखने को मिलता है, जिसमें 'स्वराज्य' और 'वैराज्य' शब्दों का प्रयोग गणतन्त्रीय संगठनों के अर्थ में हुआ है। जिन क्षेत्रों में इन दो प्रकार के शासन संगठनों का अस्तित्व बताया गया है। उनसे यह संकेत मिलता है कि आर्य भारत के पश्चिमी और उत्तरी भाग गणतन्त्रीय राजतंत्रों में परिवर्तित हो गए या इनको समाप्त करके राजतंत्रों ने इनके स्थानों पर अपने को प्रतिष्ठित कर लिया।

ऋग्वेद में आये हुए गणतंत्र के जिस स्वरूप का उल्लेख ऊपर किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रणाली सतयुग की आदर्श प्रणाली थी। सतयुग को प्राचीन साहित्य में कर्म प्रधान माना गया है, इसलिए इसका दूसरा नाम कृतयुग था। वाल्मिकी रामायण में आया है कि कृतयुग अपने आप में ब्रह्म–स्वरूप था।[53] इस युग में सारी प्रजा राजा से रहित अर्थात शासक विहीन थी। इस युग में देवताओं और मनुष्यों के बीच जो राजनैतिक सगठन थे, वे निश्चय ही गणतत्रात्मक थे। इस युग में ब्राह्मण अर्थात ऋषिमुनि लोग इस प्रकार के नियम बनाते थे जो जन साधारण के पालनीय होते थे। इस प्रकार से गणतंत्र या जनतंत्र के बाद जनतंत्रात्मक राजतंत्र की स्थापना हुई थी।

प्राचीन भारत में समाज तंत्र तथा विधि–संहिता स्थापित करने का श्रेय ब्राह्मणों और ऋषि–मुनियों को जाता है। प्राचीन काल में जिन विषयों पर श्रुति और स्मृति मौन रहती थी उस पर निर्णय लेने के लिए श्रेष्ठ लोगो के आचरणों को प्रणाम–स्वरूप ग्रहण किया जाता था। इसका अर्थ यह है कि भारतीय समाज के निर्माण के बाद ही यहां शासन–व्यवस्था लागू हुई थी, इसीलिए बुद्धिजीवियों का नियंत्रण जिस प्रकार शासक–विहीन समाज पर था उसी प्रकार परवर्ती शासन तंत्र पर भी बना रहा। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धिजीतियों का शासनतंत्र पर नियंत्रण कभी नही हो सकता था। यह स्थिति पाश्चात्य शासन तंत्र के ठीक विरूद्ध थी। जहां शासन व्यवस्था राजतंत्र के रूप में पहले उपस्थित हुई थी और बुद्धिजीवियों ने विधि–विधायकों के रूप में जनतंत्रात्मक शासन की नींव बाद में डाली थी।[54] जहां जनतत्रात्मक कानून बनने के बाद भी शासकों की निरंकुशता बार–बार स्थापित होती रही।

वैदिक शासनतंत्र के अध्ययन के बाद वैदिक युग में तीन प्रकार के शासनतंत्र होने के संकेत मिलते हैं– (1) शासक विहीन गणतंत्र (2) सराज गणतंत्र और (3) जनतंत्रात्मक राजतंत्र। शासक विहीन गणतंत्र राज्य से हमारा अभिप्राय है जहां शासन बिना किसी राजा के केवल समष्टि धर्म के आधार पर होता था। सराज गणतंत्र राज्य ऐसे राज्य होते थे, जहां जनता की सुरक्षा और युद्ध में नेतृत्व के लिए लोग राजा का चुनाव कर लेते थे। जनतंत्रात्मक राजतंत्र राज्य से तात्पर्य है जहां राजा अपने मन्त्रिमण्डल या मन्त्रि–परिषद के साथ अपनी स्थिति मजबूत कर लेता था, परन्तु ब्राह्मणों के द्वारा बनाए नियमों के अनुसार शासन चलाने के लिए बाध्य था।

वेदों में उल्लेखित इस प्रकार का भारतीय राजतंत्र एक ऐसा भारतीय शासनतंत्र था, जो पूरे विश्व में अतुलनीय है। यहां केवल यही कहा जा सकता है कि शासक हीन गणतंत्र और सराज गणतंत्र के बाद जनतांत्रिक राजतंत्र आया था। स्पष्ट शब्दों में यह कि जिस क्रम से ये शासन पद्धतियाँ दी गई हैं उसी क्रम से वैदिक कालीन शासन तंत्र का विकास समझना चाहिए। सामूहिक अर्थोपार्जन, और राजनैतिक संगठन और खान–पान आदि के रूप में मानव–जाति ने जो अवस्था विकसित की थी। उसी को विद्वानों ने अराजक राज्य कहा है।[55] उपर्युक्त सभी सीमाओं और कठिनाइयों के होते हुए भी विभिन्न शोधों से आज लगभग यह निश्चित हो चुका है कि वैदिक काल से लेकर 5वीं ईसवी शताब्दी तक भारत में जनतन्त्रात्मक शासन पद्धति विद्यमान थी। वेदों की परोक्षवादी शैली के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वैदिक काल में आर्थिक तथा क्षेत्रीय संस्थाएँ राजा का निर्वाचन करती थी। निर्वाचित राजा के अधिकार उस समय इतने सीमित थे कि उस समय के राज्य को वास्तव में वर्गों का संघ मानना उपयुक्त रहेगा।

## (ड.) वैदिक साहित्य में राज्य के प्रकार

वैदिक साहित्य में 'राज्य' शब्द का प्रयोग भिन्न–भिन्न अर्थों में हुआ है। वैदिक कालीन मन्त्रों में राज्य एवं राष्ट्र के मध्य कोई अन्तर स्थापित नही किया गया है। ऋग्वेद की मात्र एक ऋचा में राज्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[56] इसके विपरीत राष्ट्र

शब्द का प्रयोग बार–बार किया गया है। ऋग्वेद में राष्ट्र शब्द का प्रयोग राष्ट्र, राष्ट्रनाम, राष्ट्राय के रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त राज, राजा, राट्, स्वराज्य, राजसु एवं राजसि पदों के प्रयोग मिलते हैं।[57] ये सभी पद राज्य के घटक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

वैदिक साहितय में प्रयोग हुए गणतंत्र राज्य, राजतंत्र राज्य जैसे शब्दों से सिद्ध होता है कि शासन तंत्र की दृष्टि से या राजनैतिक पद्धति की दृष्टि से इस प्रकार के राज्य एक प्रकार के नहीं थे क्योंकि इनकी शासन प्रणालियाँ अलग–अलग थीं। जिस प्रकार के शासनतंत्र के साथ राज्य शब्द का प्रयोग होगा उसी के अनुसार उसका विशेष अर्थ आंका जाएगा। यह राज्य शब्द के विशेष अर्थ का उदाहरण है। जब राज्य शब्द का प्रयोग विशेष शासनतंत्र के साथ नही होता तो उस स्थिति में यह सामान्यतः सभी प्रकार के शासनतंत्रों से सम्बन्ध रखता है। यह राज्य शब्द के सामान्य प्रयोग का उदाहरण है।

राज्य शब्द की उत्पत्ति के बारे में साधारणतः दो विचारधाराएं हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार 'राज्य' शब्द का निर्माण राजन् शब्द से भावार्थक यत् प्रत्यय लगने पर हुआ है और राजन शब्द के मूल में 'राज दीप्तौ' धातु है जिसका अर्थ है – दीप्त होना जगमगाना और सुन्दर लगना।[58] इसके अनुसार वैदिक काल में उस व्यक्ति को राजा की संज्ञा दी जाती थी जो अपने धर्म–कर्म से सुशोभित होता था और जो प्रजा को अपनी नेकचलनी से प्रसन्न रखे और उसको रक्षा भी प्रदान करें। राज्य शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरी विचारधारा यह है कि राज्य शब्द राजन् शब्द से निष्पन्न न होकर सीधी 'राजृ दीप्तौ' धातु से यत् प्रत्यय लगने पर बना है। वस्तुतः पहली उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी अड़चन यह थी कि राज्य से पहले 'राजन्' शब्द की स्थिति स्वीकार करने पर ही इसे सार्थक माना जा सकता था। जबकि 'वैराज्य' जैसे गणतंत्र राज्यों में कोई राजा का ही नहीं, बल्कि अपने–अपने धर्म से प्रजा सुरक्षित थी। अथर्ववेद में इसीलिए 'राजयाते' कहकर राज्य को स्वयं प्रकाशमान स्थिति का रूप प्रदर्शित किया है।[59]

इससे पहले राज्य का विचार ऋग्वेद में किया गया है जो एक रूपक

पद्धति का निदर्शक है। यहाँ राज्य भाव को उस प्रकाश के रूप में स्वीकार किया गया है जो पृथ्वी का आधारपत्ति अर्थात रक्षक है। किन्तु वैदिक कालीन राज्यों में कुछ राज्य ऐसे भी थे, जिनमें राजा का अस्तित्व था, ये राजा ऋषि–मुनियों द्वारा सम्पादित धर्मविधि और आचार–संहिता का अनुसरण करते हुए प्रजा के योग–क्षेम के लिए ही सर्वथा समर्पित थे। ये राजा पश्चिम के प्राचीन राजाओं की तरह लूट–पाट और नर संहार करके निरंकुश शासन करने वाले नहीं थे, अपितु वैदिक समाज ने अपनी सुरक्षा और अमन–चैन के लिए इन्हें राजा बनाया था। इन्हें पता था कि इन्हें उस धर्म–संहिता का अनुसारण करना होगा जिसका निर्माण किसी शासक राजा ने नही किया बल्कि राजतंत्र से बाहर रहकर प्रजा का कल्याण चाहने वाले ऋषि–मुनियों ने किया है, फलस्वरूप ये लोग अपने अधिकार के साथ–साथ कर्तव्यों से बंधे हुए थे।

वैदिक कालीन शासनतंत्र में राजा की आवश्यकता से सम्बन्धित भी विद्वानों में मतभेद है। इससे सम्बन्धित एक कथा–भी मिलती है कि देवों और मनुष्यों में राजा की आवश्यकता का एक ही कारण था। देवों में कुछ देव ऐसे थे जो अति–मध सेवन करते थे तथा जो देवत्व से गिर चुके थे जो स्वभावतः अन्य देवताओं को तंग करने लगे थे और इसीलिए ये देव असुर नाम से जाने गए। इन असूरों से देव लोग अपनी सात्विकता के कारण हार जाते थे अतः उन्होंने युद्ध के नेतृत्व के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को राजा चुनने की कामना की जो उन्हें असुरों से विजय दिला सके। इसलिए उन्होंने सर्वाधिक पराक्रमी इन्द्र को चुना और इस प्रकार इन्द्र पद की स्थापना हो गई।[60] यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण से ली गई है। इन्द्र के राज्यभिषेक के समानान्तर ही मनुष्यों ने भी मानव जाति की रक्षा के लिए राजा की मांग प्रजापति ब्रह्मा से की, और तब ब्रह्मा ने मनु को राजा बनाया था।[61] ऋग्वेद में इसी बात का दूसरी तरह से उल्लेख है कि किसी समय किसी शासक–विहीन जन समुदाय को कुछ दस्युओं ने पराजित कर दिया, जिसके कारण लोगों ने युद्ध में नेतृत्व के लिए राजा की आवश्यकता का अनुभव किया और अपने बीच मे से एक राजा का चुनाव किया।[62] वस्तुतः यही से प्राचीन भारत में राजतंत्र का उदय हुआ और कुछ ऐसे राज्यों की नींव पड़ी जो राजा के आदर्श

कमक्षेत्र के रूप में जनता को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुए। इसका सारांश यह है कि समाज में बढती हुई विषमताओं को दूर करने के लिए ही राजतंत्र का उदय हुआ था और उसके व्यवस्थित कमक्षेत्र के रूप में राज्य की प्रतिष्ठा हुई थी।

'राज्य' शब्द के प्रयोग, उत्पत्ति–भेद और स्वरूप आदि के विचार–विमर्श के बाद उसके प्रकारों का निरूपण भी प्रसंग प्राप्त है। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में कई स्थानों पर राज्य के प्रकारों का उल्लेख है। कुल मिलाकर सात प्रकार के राज्य गिनाए गए हैं। इनके नाम हैं – राज्य, स्वाराज्य, भौज्य, वैराज्य, पारमैष्ठय, जान राज्य और साम्राज्य। वेदों में भी यत्र–तत्र इनके उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनका विस्तृत विवरण इस प्रकार है :–

**(1) राज्य**

राज्य शासन प्रणाली का सभी वेदों में उल्लेख है। राज्य का उच्चतम शासक राजा होता था। ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैतिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण आदि में राज्य का स्पष्ट उल्लेख है। 'राज्य' शब्द का प्रयोग यहां सामान्य अर्थ में हुआ है। अथर्ववेद में राजा की भगवा ध्वज के उल्लेख के साथ उसके राज्य की जानकारी की बात कही गई है।[63] ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि कुरू, पांचाल आदि प्रदेशों में राज्य पूरी तरह स्थापित था और इन राज्यों में अभिषिक्त होने वाले शासकों को राजा कहते थे।

पाणिनी ने राज्य की परिभाषा दी है कि जिस शासन पद्धति में राजा सर्वोच्च अधिकारी हो, उसे राज्य कहते हैं।[64] यह भी कहा जा चुका है कि राज्य के अन्दर केवल वे ही राज्य नहीं थे जिनमें शासक के रूप में राजा की स्थिति थी, बल्कि वे भी राज्य थे जो बिना किसी राजा के थे और जिनकी प्रजा धर्म किवां ऋत, के अनुसार पूर्णतः सुरक्षित थी। इस प्रसंग के अर्न्तगत अनेक प्रकार के राज्यों का वर्णन आगे किया गया है।

**(2) स्वराज्य**

स्वराज्य शब्द की उत्पत्ति स्वराट् शब्द से हुई है। स्वराट् शब्द स्व–राज से बना है। इसका अर्थ है जो स्वयं अथवा स्वतंत्र रूप से शासन करता है। प्रो० नूप्सन ने

भी स्वराट् का अर्थ स्वशासित लिया है। स्वराज्य शब्द स्वराज्य+भार्वाथक अण (अ) प्रत्यय करके बनता है।[65] अतः इसका अर्थ होता है– स्वराज्य वाला प्रशासन। यजुर्वेद का कथन है कि उत्तर–दिशा अर्थात् उत्तर–भारत में स्वराज्य शासन प्रणाली का प्रचलन था और प्रशासक को 'स्वराट्' कहते थे।[66]

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में 16 मंत्रों का एक पूरा–सूक्त 'स्वराज्य सूक्त' है। इस सूक्त के सभी सोलह मंत्रों के अन्त में 'अर्चन अनु स्वराज्यम्' कह स्वराज्य की महिमा का गुणगान किया गया है।[67] ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में स्वराज्य की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि 'यतेमाहिस्वराज्ये' अर्थात स्वराज्य प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि स्वराज्य की रक्षा का उत्तरदायित्व किसी व्यक्ति विशेष पर न होकर सारी प्रजा पर होता है। सभी के प्रयत्न से स्वराज्य स्थिर होता है। यजुर्वेद में भी राज्यभिषेक के समय राजा से कहा गया है। कि 'स्वराजस्थ' अर्थात् स्वराट् या स्वतंत्र राजा होकर रहे।

शतपथ ब्राह्मण में स्वराज्य के अधिपति पद की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि सर्वमेघ यज्ञ कर लेने के उपरान्त स्वराज्याधिपत्य प्राप्त होता है। इस यज्ञ का फल यह होता है कि यजमान राजा अपनी आत्मा को अपने अधीन राज्य के सभी प्राणियों में और राज्य के सभी प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा में अनुभव करने लगता है। जिस अधिपति में इतना उच्च कोटी का ज्ञान जाग्रत होकर उसके अनुसार शासन करने की क्षमता हो जाती है वह स्वराट् कहलाता है और उसके अधीन राज्य को स्वराज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है।[68]

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पश्चिमी भारत में यह शासन–प्रणाली प्रचलित थी। इस प्रणाली में शासक स्वराष्ट्र कहा जाता था। स्वराष्ट्र का अर्थ ऐसे शासक से है जो स्वयं शासन करने वाला हो। तैत्तरीय ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ की प्रशंसा करते हुए यह कहा गया है कि इसे सम्पन करने वाले व्यक्ति को स्वराज्य प्राप्त होता है।[69] यहा पर स्वराज्य शब्द का अर्थ अपने जैसे लोगों पर शासन करना बताया गया है। इससे अनुमान लगया जा सकता है कि यहां पर लोग चुनाव के माध्यम से अपना शासक चुनते होंगे। डॉ० जायसवाल का विचार है कि स्वराज्य अभिषेक का अर्थ

सम्भवतः गण या परिषद के सभापति के रूप में नियुक्त होने से होगा।[70]

**(3) भौज्य**

ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में भौज्य शासन–प्रणाली का उल्लेख है। इसके प्रशासन को भोज कहते हैं। भोज शब्द की निष्पति 'भुज' धातु से होती है जिसका अर्थ है भोग सामग्री प्रस्तुत करना। इस प्रकार से जिस राज्य में राजा अपने अधीन प्रजा के निमित उनके भोजन, वस्त्रों, गृह आदि सुलभ रखने की सम्यक व्यवस्था करता है उस राज्य को प्राचीन भारत में भौज्य कहा गया है।[71] भौज्य शासन पद्धति से सम्बन्धित एक उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि यह शासन पद्धति दक्षिण–दिशा में 'सात्वत' अर्थात 'यादव' राजाओं में प्रचलित थी।[72]

ऋग्वेद में इन्द्र को भोज की उपाधि से अलंकृत किया गया है। इस सम्बन्धित मंत्र का कथन है कि हे इन्द्र तुम दानी हो, अतः तुम्हें भोज' कहते हैं। ऋग्वेद के एक अन्य सुक्त में दानी रूप में 'भोज' की अनेक मंत्रों में प्रशंसा की गई है। इससे संकेत मिलता है कि जो राजा बहुत उदार होते थे उन्हें भोज उपाधि दी जाती थी और उनकी शासन–प्रणाली को भौज्य कहा जाता था।[73] डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि भौज्य शासन प्रणाली में जनहित और लोक कल्याण की भावना अधिक रहती थी, अतः यह पद्धति अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई।

ऐतरेय ब्राह्मण में भोज शासन–प्रणाली के सम्बन्ध में उल्लेख आया है कि भोज शब्द का प्रयोग करने से यह सिद्ध होता है कि स्थान के अनुसार भी राज्यों की शासन प्रणाली का नामकरण कर दिया जाता था।[74] महाभारत के शान्ति पर्व में कहा गया है कि राजा को भोज, विराट, सम्राट, क्षत्रिय, भूपति और नृपति भी कहते हैं। इससे विदित होता है कि वैराज्य और साम्राज्य के समान भौज्य भी एक विशेष प्रकार की शासन प्रणाली थी। भोज्य एक जनतंत्री शासन प्रणाली थी।[75] आचारांग सुत्त में एक वाक्य मिलता है जिसमें "उग्गकुलाणि वा भोजकुलाणि वा राहनकुलाणि वा खत्रिय कुलाणि" लिखा है। हमारे विचार से उक्त भोगकुल, उपर्युक्त भोज राज्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। डॉ० वी० सी० ला ने एक स्थान पर रट्ठिक, येतनिक और भोजक

को राज्य के तीन विभिन्न उच्चाधिकारी माना है। जिसके आधार पर भोजक नामक पदाधिकारी का कार्य जनता की आजीविका का प्रबन्ध और देखभाल करना होगा।[76] भौज्य राज्य के अध्यक्षों को राजा शब्द से भी अभिहित किया जाता था। विदर्भ राजा भीम को और दण्डक राजा दण्डकी को भी भोज कहा जाना, इस कथन के साक्षी हैं।

**(4) वैराज्य**

ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि वैराज्य राज्य व्यवस्था उत्तरकुरू और उत्तरमद्र प्रदेशों में प्रचलित थी। वैराज्य शब्द के दो अर्थ है :– 1. वि+राज, विशेष ऐश्वर्य से सम्पन्न सार्वभौमशक्ति सम्पन्न। परमपुरुष या परम ब्रह्म। 2. वि+राज, राजा से रहित, बिना राजा वाला राज्य। अथर्ववेद में वैराज और विराट् दोनों शब्दों का उल्लेख है। इस वेद में विराज्, स्वराज और साम्राज्य तीनों प्रकार की शासन प्रणालियों को नमस्कार किया गया है। यजुर्वेद में विराट शासन प्रणाली का प्रचलन दक्षिण में बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इस पद्धति का प्रचलन उत्तर भारत के हिमालय वाले क्षेत्रों में बताया गया है।[77] इससे ज्ञात होता है कि यह शासन प्रणाली भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित थी।

अथर्ववेद के अनुसार वैराज्य की स्थिति पश्चिमी भारत में मानी गई है।[78] यही रामायण कालीन गन्धर्वराज्य हो सकता है जिसकी स्थिति पश्चिमोत्तर दिशा में मानी गई है। राम ने भरत को जब उस राज्य पर आक्रमण के लिए भेजा था, तब सभी गन्धर्वों ने एकजुट होकर उसका सामना किया था। भरत के माया युधोजित् ने इस वैराज्य की शक्ति और समृद्धि से जलकर राम के द्वारा इस पर आक्रमण कराया था।[79] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तर भारत में ये वैराज्य नामक राज्य काफी समृद्ध थे। ये निश्चय ही उन वैराज्यों की परम्परा में थे, जिनका उल्लेख यजुर्वेद मे मिलता है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने इस प्रकार की शासन प्रणाली की गणतंत्र–शासन–प्रणाली और बिना राजा की शासन प्रणाली का नाम दिया है।

कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में वैराज्य–शसन प्रणाली की आलोचना करते हुए कहा है कि वैराज्य शासन प्रणाली में कोई भी राज्यसंपत्ति को अपनी नहीं

समझता। जीवन उपयोगिता की दृष्टि से राजा–हीन शासन प्रणाली देश के लिए उपयुक्त नही मानी गई है। वैराज्य और द्वैराज्य के गुणावगुणों पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए कौटिल्य लिखता है कि प्राचीन आचार्य द्वैराज्य की अपेक्षा वैराज्य को अधिक अच्छा मानते थे, क्योंकि वैराज्य में जनता के हित के अनुकूल शासन होने के कारण अधिक सुख–शान्ति की सम्भावना रहती है।[80] कौटिल्य की विचारधारा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैराज्य ने लोगों के हित का विशेष ध्यान रखा जाता था।

भारतीय विद्वानों ने प्राचीन काल में मानव उत्थान की दूसरी अवस्था वैराज्य को माना है। अतः वैराज्य के आदि स्वरूप में राजा नहीं था। परन्तु प्रशासनिक विधियाँ अवश्य थी। हिन्दू समाज में यह अवस्था उस समय की है जब वर्ण–व्यवस्था और धर्म की उत्पत्ति हो चुकी थी तथा राजनीतिक क्षेत्र में सभा–समिति स्थापित हो चुकी थी।[81] अथर्ववेद के एक मंत्र में संकेत किया गया है कि ऐसा भी युग था जब राजा न था। इसका अर्थ है की जनता स्वयं अपनी राज्यव्यवस्था का संचालन करती थी। इस श्रेणी की शासन व्यवस्था जिन राज्यों में होती थी उसे वैराज्य की संज्ञा दी गई है।[82] जैन आचारांग सूत्रों में भी जहां भिन्न–भिन्न प्रकार की शासन प्रणालियों का उल्लेख है, वहां वैराज्य का नाम आया है। महाभारत में विराज शब्द को भी पद संबंधी उपाधियों में से एक बताया गया है। महाभारत के भीष्म पर्व में हमें चार ऐसे जनपदों का वर्णन मिलता है, जहाँ न कोई राजा था, न दण्ड देने वाला ही था।[83] वहाँ के लोग धर्म के ज्ञाता थे और स्वधर्म पालन के ही प्रभाव से एक दूसरे की रक्षा करते थे। अतः स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के राज्यों में प्रशासनिक व्यवस्था थी, परन्तु कोई राजा नही था। वैराज्य शब्द से भी ऐसे ही राज्य का भाव निकलता है।

वैराज्य के प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि वैराज्य एक प्रकार से गणतंत्र राज्य था। जिस में किसी एक राजा का अधिकार न होकर राजाओं का मिला–जुला शासन तंत्र चलता था। डॉ० अल्तेकर ने ठीक ही कहा है कि 'राज्य' का मतलब छोटी–छोटी रियासतों से था, जो स्वायत्त थीं किन्तु वैराज्य का मतलब ऐसे प्रजातंत्र से था, जो बिना किसी राजा के था और जिनकी व्यवस्था गणों द्वारा होती

थी।[84] इन गणों में कभी–कभी कोई प्रभावशाली व्यक्ति भी शासक रहा होगा, जिसे विराट कहा जाने लगा। इससे वैराज्य का दूसरा अर्थ (विशिष्ट राजा वाला) भी निकलता है।

इस व्यवस्था के बारे में यह भी कहा जा सकता है कि वैराज्य शासन व्यवस्था वैदिक काल और परवर्ती काल में निश्चय ही बदलती रही होगी। वैदिक कालीन वैराज्य निश्चय ही गणतंत्र राज्य थे, जबकि महाभारत कालीन वैराज्यों में गणों की स्थिति सामन्तों जैसी ही रही थी और उनकी छोटी–छोटी रियासतें मिलकर वैराज्य को गणराज्य का उदाहरण बना रही थी। फिर अनेक वैराज्य ऐसे थे जो वैदिक कालीन वैराज्यों के आधार पर परवर्ती युगों में भी चलते रहे थे।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वैराज्य में प्रजा सामान्य जनता बिना किसी राजा के गुणों की सर्वसम्मति के आधार पर अपनी प्रशानिक व्यवस्था स्वयं करती थी। यहां पर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन भारत में वैराज्य उसी काल तक कायम रहा, जब तक लोगों में धर्म–भीरूता के कारण एक–दूसरे के हित का ध्यान रहता था और विधि–नियमों का उल्लंघन नही होता था। परन्तु जिस प्रकार से भौतिकवादी युग ने प्रगति की उसी के साथ–साथ लोगों का मौलिक पतन होने लगा तथा अराजक वातावरण तैयार होने लगा। इस वातावरण के अन्तर्गत किसी शक्तिशाली शासक की और दण्डविधान की आवश्यकता महसूस की गई। प्राचीन भारत में जनतंत्रात्मक राजतंत्र के उदय का यही ऐतिहासिक कारण था।

**(5) पारमेष्ठय**

वैदिक साहित्य में पारमेष्ठय राज्य का अनेक बार उल्लेख आया है। पारमेष्ठय शब्द परमेष्ठी से बना है और परमेष्ठी का अर्थ है– प्रजापति ब्रह्मा। ऐतरेय ब्राह्मण में पारमेष्ठय शासन प्रणाली का उल्लेख किया गया है। इसके प्रशासक को परमेष्ठी कहते थे। इसमें 'राजानं राजपितरम्' का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि यह शारान प्रणाली वंश–परम्परागत होती थी।[85]

अन्य साहित्यिक ग्रन्थों यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता आदि में परमेष्ठी

का उल्लेख मिलता है और उसे अधिपति कहा गया है। यहां पर परमेष्ठी का उल्लेख प्रजापति के लिए हुआ है। यजुर्वेद में परमेष्ठी अधिपति कि कुछ विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है जैसे 'भूतानि अशाम्यन' प्राणियों या प्रजा में शान्ति–व्यवस्था हुई। इसका अभिप्राय है कि पारमेष्ठय शासन–प्रणाली की मुख्य विशेषता है–प्रजा में शान्ति व्यवस्था की स्थापना।[86]

महाभारत के शान्तिपर्व और सभा–पर्व में गणतंत्र–शासन या संघ शासन का विस्तार से वर्णन हुआ है। पारमेष्ठय शासन गणतंत्र शासन है। पारमेष्ठय शासन में प्रत्येक गण का समान अधिकार होता था। महाभारत के सभापर्व में पारमेष्ठय शासन की प्रशंसा भी की गई है। पारमेष्ठय राज्य के सम्बन्ध में महाभारत में एक अन्य उल्लेख यह प्राप्त होता है कि इस शासन प्रणाली में राज्य के अध्यक्ष को राजा नही कहते थे, उसको श्रेष्ठ कहा जाता था और उसकी नियुक्ति स्पर्धा द्वारा किसी निश्चित अवधि के लिए होती थी।[87] इस प्रकार से कभी कोई श्रेष्ठ बन जाता था और कभी कोई।

डॉ॰ के० पी० जायसवाल लिखते हैं कि सम्भवतः पारमेष्ठय राज्य किसी प्रकार का ऐसा राजतंत्रीय शासन था जिसका संगठन कुछ भिन्न प्रकार का था।[88] कुछ विद्वानों की कल्पना है कि पारमेष्ठ्य राज्य वे होते होंगे जिसके राजा, प्रजापति की भाँति न्याय–प्रिय और निरीह समझे जाते थे।[89] यह कल्पना बिल्कुल निराधार भी नही है क्योंकि प्राचीन काल रो भारत मे ग्राम देवताओ के खेड़ों की परम्परा प्रचलित रही है। गोकर्ण, नगरकोट, ऋषिकेश आदि स्थान इसके साक्षी हैं कि इनकी नगर–व्यवस्था में इनके देवताओं की कितनी भूमिका है।

वास्तव में वैदिक साहित्य से पारमेष्ठ्य राज्य के बारे में कोई स्पष्टतः जानकारी उपलब्ध नही होती, इसीलिए महाभारत में जो संकेत प्राप्त होते हैं वह परम्परा पर आधारित है। यहाँ पारमेष्ठ्य राज्य का जैसा वर्णन है उससे यह सिद्ध होता है कि यह राजतंत्रात्मक शासन न होकर पूर्णतः जनतंत्रात्मक शासन था।

**(6) जानराज्य**

वैदिक युग में बहुत से छोटे–छोटे राज्यों की सत्ता थी, जिन्हें 'राष्ट्र' कहा जाता था। इनको 'जानराज्य' भी कहा जाता था, क्योंकि इनका आधार 'जन' होता था।

एक जन के सब व्यक्ति प्रायः 'सजात' या 'सनाभि' होते थे। इन सब राष्ट्रों व जानराज्यों में प्रायः ऐसी शासन प्रणाली थी, जिसमें राजा का 'वरण' किया जाता था।[90] राजा राष्ट्र की सभा और समिति नामक संस्थाओं का अनुगामी बनकर शासनकार्य का संचालन किया करता था।

यजुर्वेद, तैतिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में जनराज्य का उल्लेख है। यजुर्वेद आदि में इसे जानराज्य कहा गया है। राजसूय यज्ञ के समय राजा का अभिषेक करते हुए कहा गया है कि 'महते जानराज्याय' अर्थात महान् जनराज्य के लिए तुम्हारा अभिषेक किया जा रहा है।[91] शतपथ ब्राह्मण ने इसकी व्याख्या में कहा है कि 'महते जनाना राज्यायः। डॉ॰ काशीप्रसाद जायसवाल ने 'जानराज्य' का अनुवाद किया है कि ऐसी शासन व्यवस्था जो जनता या राष्ट्रीय प्रशासन के लिए है।[92] यजुर्वेद में जानराज्य के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इसमें राज्य के शत्रु नहीं रहने पाते। इससे जनता ज्येष्ठता और श्रेष्ठता की अनुभूति करती है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा और सम्राट आदि जनतंत्र या प्रजातन्त्र की विधि को पसन्द नहीं करते थे। वे वंशगत राजपरंपरा के पक्षपाती थे। अतः राजाओं और जनराज्यों में प्रायः युद्ध होता रहता था। दोनों वेदों में वर्णन है कि राजा सुश्रवा का 20 जनराज्यों के प्रशासकों के साथ युद्ध हुआ था। इन्द्र ने सुश्रवा का पक्ष लिया और इन 20 जनराज्यों के राजाओं को नष्ट किया था। इस युद्ध में जनराज्यों के साठ हजार सैनिक मारे गए थे।[93]

ऋग्वेद में राजा सुदास के साथ दस जन राजाओं के युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में इन्द्र ने राजा सुदास का पक्ष लिया था और उसे विजय दिलाई थी। इस युद्ध में जनराज्यों के मृत सैनिकों की संख्या छयासठ हजार दी गई है।[94] इस प्रकार के उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि उस समय जनराज्य प्रणाली का भी विशेष प्रचलन था।

शतपथ ब्राह्मण में एक गांव का वर्णन आया है कि जो अपने नेता शर्यात मानव के नेतृत्व में इधर–उधर घूमा करता था और अस्थाई राजनैतिक व्यवस्था के साथ जीवन–यापन करता था। वाजसनेयी संहिता में तथा अन्य संहिताओं में भी स्थिर

जानराज्य का भी प्रसंग है क्योंकि यहाँ एक 'जय देवेषुद्धवीमि' नामक अनुष्ठान में राजा के लिए जानराज्य की कामना की गई है।[95]

## (7) साम्राज्य

प्राचीन भारत में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के साथ–साथ साम्राज्य का उदय हुआ। राज्य की सीमाएँ निश्चित करना ही राष्ट्र का लक्षण है और उनमें लगातार वृद्धि करना साम्राज्य की पहचान है। साधारणतः साम्राज्य शब्द से हमारा अभिप्राय है कि सम्राट के द्वारा अपने आस–पास के छोटे–छोटे राज्यों को पराजित करके अपने अधीन कर उन पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करना तथा उन राज्यों से निश्चित कर वसूल करना। साम्राज्य का अन्तिम परिवर्धित और परिष्कृत लक्षण समुद्र पर्यन्त पृथिवी पर एकराज्य स्थापित करने के रूप माना गया। परवर्ती काल में एक राज्य के रूप में राज्य का निरूपण और एकराज के रूप में राजा का निरूपण क्रमशः साम्राज्य और सम्राट के परिचायक बन गए थे।

साम्राज्य का सर्वोच्च शासक अथवा उसका अधिपति सम्राट कहलाता था। सभी क्षत्रिय लोग सम्राट पद प्राप्त करने के अधिकारी नहीं होते थे। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट व्यवस्था दी गई है कि वाजपेय यज्ञ सम्राट पद देता है। वाजपेय यज्ञ के अवसर पर वह राजा वरूण देव से साम्राज्य प्राप्ति हेतु प्रार्थना करता था। इस प्रार्थना का हिन्दी भाषानुवाद इस प्रकार है – सम्राटपति वरूण मेरे लिए साम्राज्य प्रदान करें[96]

ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य में साम्राज्य, सम्राट आदि शब्दों का भी उल्लेख कितने ही ग्रन्थों में आता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में विभिन्न राजाओं के मध्य युद्धों का जो वर्णन है, उससे भी साम्राज्य विकास का स्पष्ट पता चलता है। सुदास नामक राजा ने विभिन्न राजाओं को पराजित कर सप्तसिन्धु में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि :–

राजा वै राज सूयेनेष्ठवा भवति। सम्राड़ वाजपैयेन।
अंबर हि राज्यं परं साम्राज्यम।।

अर्थात् राजसूय यज्ञ करने से राजा के पद की प्राप्ति होती है, परन्तु वाजपेय यज्ञ करने से सम्राट के पद की प्राप्ति होती है। राज्य छोटा होता है, साम्राज्य बड़ा होता है। अतः राजा से सम्राट होना उच्च पद है। शतपथ ब्राह्मण में व्यवस्था दी गई है कि पहले राज्य फिर साम्राज्य अर्थात पहले राजा बने फिर सम्राट।[97] शतपथ ब्राह्मण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट सारे संसार पर एकछत्र अधिपति होता था। वह सबको अपने अधिकार में कर लेता था। उसे कोई न हरा सकता था और न मार सकता था। इससे ज्ञात होता है कि सम्राट एक निर्भय एवं ओजस्वी शासक होता था। सम्राट के अधीन अनेक राजा होते थे। पाणिनी के अनुसार सम्राट को 'कृत्स्नभाक' कहा गया है।[98] इसका अभिप्राय है कि साम्राज्य वह शासन प्रणाली है जो अनेक राजाओं के स्वत्व या अधिकारों को छीनकर आत्मसात कर लेती है और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर देती है।

वैदिक युग में एकराट का राज्य–क्षेत्र सकागर पृथ्वी कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि 'एकराट' का मतलब अद्वितीय राजा के रूप में सम्राट ही माना जाता था और राष्ट्र का मतलब साम्राज्य लिया जाता था।[99] ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार प्राच्य देश के शासकों का अभिषेक सम्राट के रूप में होता था। विदेह राज जनक ऐसे ही प्राच्यदेशीय राजा थे जिन्हें सम्राट माना गया है।[100]

उपर्युक्त राज्य–प्रकारों में राज्य तो सामान्यतय सभी प्रकार के राज्यों के लिए प्रयुक्त हुआ है परन्तु विशेषतः राजतंत्र राज्य के लिए यह प्रसिद्ध है साम्राज्य शब्द पूरी तरह राजतंत्र राज्य के लिए ही उसके विशिष्ट अर्थ के साथ प्रयुक्त हुआ है। राज्य का प्रचलन मुख्यतया मध्यप्रदेश में तथा साम्राज्य का प्रचलन प्राच्य प्रदेशों में था। अनेक यज्ञ विधियों का सम्बन्ध राजा से होता था। अतः अश्वमेघ, राजसूय आदि यज्ञों के प्रसंग में राजतंत्रात्मक राज्य और साम्राज्य की व्यवस्था का विस्तार से वर्णन मिलता है।

दूसरी ओर स्वाराज्य, भौज्य और वैराज्य, ये तीन राज्य जनतंत्रात्मक प्रणाली के उदाहरण माने गये हैं। उत्तरवैदिक काल जिस प्रकार राजतंत्रात्मक स्थिति के लिए अधिक अनुकूल था, उसी प्रकार पूर्व–वैदिक काल जनतंत्रात्मक स्थिति के लिए

अधिक अनुकूल थे। इसका अर्थ है कि जनतांत्रिक शासन के लिए उत्तर वैदिक काल की राजनैतिक व्यवस्था अधिक उपयोगी नहीं थी। वैसे महाभारत में आये हुए उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाराज्य, भौज्य, और वैराज्य निश्चय ही जनतंत्रात्मक राज्य थे। इसके साथ एक और बात ध्यान देने योग्य है कि ये जनतंत्रात्मक राज्य मुख्यतया वैदिक संस्कृति के केन्द्र मध्य–प्रदेश से दूर दराज के प्रदेशों में ही अधिक प्रचलित थे, इसलिए आर्य लोगों के प्रभाव से ये बहुत कुछ मुक्त दिखाई पड़ते हैं।

अन्ततः उपर्युक्त राज्यों की शासन–प्रणालियों के पारिभाषिक निरूपण और इनकी सोदाहरण संगति की बात वैदिक साहित्य के अन्तर्गत खोजना सम्भव नहीं है फिर भी इन राज्यों के निश्चित उल्लेख यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उस समय और उसके पहले भी इन राज्यों और इनकी शासन–प्रणालियों के अस्तित्व विद्यमान थे।

## (च) वैदिक साहित्य में जनतंत्रात्मक राजतंत्र

वैदिक काल में राजपद का विकास जनतांत्रिक ढंग पर हुआ था, जैसकि 'राजा' शब्द के व्युत्पत्यर्थ से स्पष्ट हो जाता है। समाज के कल्याण द्वारा प्रजा को सुखी बनाना राजा का परम् पुनीत कर्तव्य माना गया था। इसके अलावा भारतीय विद्वानों ने अनेक बार कहा है कि भारत के प्राचीन राजतंत्र का रूप वह नहीं था जो पश्चिम के राजतंत्र का था। पश्चिमी राजतन्त्र में राजा अपनी सुख–सुविधाओं को बनाए रखने के लिए विधि–नियम बनाता था, जिससे सामान्य जनता पर उसका निरंकुश शासन स्थापित हो सके। जबकि दूसरी तरफ प्राचीन भारतीय शासनतंत्र में राजा के अधिकारों के विपरीत कर्त्तव्यों पर अधिक बल दिया जाता था। राजा को उन कानूनों का अनुसरण करना पडता था, जिन्हें धर्माचार्य और नीतिविद् लोग जनता की भलाई को ध्यान में रखकर बनाते थे। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय शासन तंत्र से बाहर बैठकर विधियों का निर्माण करने वाले विद्वान ही एक प्रकार से जनता के प्रतिनिधि थे। क्योंकि उनके द्वारा बनाए गए विधि–नियम जनता के अधिकारो की सच्ची मांग थी, जिनका पालन करना राजा का प्रमुख कार्य होता था।

पूर्व–वैदिक युग में कदाचित् विशुद्ध रूप में गणतन्त्र का अस्तित्व न रहा हो किन्तु राजतन्त्र के रहते हुए भी राजनैतिक वातावरण पूर्णतय जनतान्त्रिक था।[101] अधिकाश भातीय विद्वान डॉ॰ जायसवाल के इस विचार से सहमत नही है कि गणतन्त्र राजतंत्र का परवर्ती है। उनकी यह मान्यता है कि भारत में सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति जनतन्त्र के रूप में हुई थी और वैदिक काल में ही जनतंत्र का रूप पूर्णतः विकसित हो चुका था।[102]

वैदिक साहित्य से हमें पता चलता है कि शासनतंत्र का आधार "ऋत् धर्म" होता था। ऋत् के बारे में अनेक उल्लेख भी प्राप्त होते हैं कि वैदिक काल में राजनियमों से अधिक शक्तिशाली वरूण के ऋत का अधिकार समाज पर था। ऐसे वातावरण में भारतीय राजतन्त्र भी पश्चिमी राजतन्त्र की तरह निरंकुशवाद की ओर कदम नहीं बढ़ा सका, क्योंकि वह जनतन्त्रात्मक था। पश्चिम में राजा का अस्तित्व प्रजा पर आतंक और भय के कारण उदित हुआ, जबकि वैदिक राजा का चुनाव यहाँ की जनता ने अपनी सुरक्षा के लिए स्वयं किया था। जिसका अर्थ था कि प्रजा अपने योगक्षेम के लिए राजा को अपना प्रतिनिधि मानती थी और इसीलिए वैदिक कालीन राजा का शासन एक प्रतिनिधि शासन था। क्योंकि प्रतिनिधि शासन या शासन में प्रतिनिधित्व का रूप प्रजातंत्र या जनतंत्र की मूल पहचान है इसलिए हमने वैदिक राजतंत्र को सही अर्थों में जनतत्रांत्मक राजतंत्र कहा है।

इस अध्याय में हम प्राचीन भारतीय राजतन्त्र से सम्बंधित वैदिक साहित्य में बिखरे पड़े साक्ष्यों और तथ्यों को इकट्ठा करने का प्रयास कर रहे हैं। जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि तत्कालीन राजतन्त्र आज के प्रजातन्त्र से भी समाजग्राहय और अभीष्ट था। यह प्राचीन भारत की एक ऐसी राजनैतिक उपलब्धि थी, जिसकी कल्पना भी कभी पश्चिमी लोगों ने न की होगी। अब भारतीय विद्वानों का यह दायित्व बनता है कि वे पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित न होकर, भारतीय शासनतंत्र की सर्वाधीक प्राचीन उपलब्धियों को उजागर करने का प्रयास करें।

## (1) राजा शब्द का अर्थ

वैदिक साहित्य में राजा शब्द का प्रयोग भी भिन्न–भिन्न अर्थों में हुआ है। राजा शब्द की उत्पत्ति के बारे में भी विद्वानों के अनेक मत प्रचलित हैं। 'राजा' शब्द की व्युत्पत्ति 'रंज रागे' धातु से 'कनिन' प्रत्यय होने पर मानी जाती है। 'रंज' धातु का लाक्षणिक अर्थ प्यार करना भी है और जिसका संकेत होगा कि अपनी प्रजा को प्यार करने वाला ही राजा होना चाहिए 'राजा प्रकृति रंजनात' यह परम्परागत सूक्ति इस सम्बन्ध में एक प्रमाण है।

राजा की दूसरी उत्पत्ति 'राजृ दीप्ता' धातु से मानी गई है जैसा कि अथर्ववेद के 'राजयाते' प्रयोग से सिद्ध है।[103] 'राजृदीप्ता' से अभिप्राय है जो राजा अपने कार्यों के द्वारा दीपक की तरह सुशोभित हो। इस प्रकार प्राचीन भारतीय 'राजा' शब्द की सत्ता ही साधारण जनता के योगक्षेम के साथ जुड़ी हुई है। इसके विपरीत पश्चिमी मोनार्क शब्द अपने मूल रूप में एकाधिकार या निरंकुशता की भावना से चालित होता था। भारत का प्राचीन राजतंत्र भी अपने मूल रूप में ग्राहय होने के कारण विधेयात्मक था, जबकि पश्चिम का राजतंत्र स्वरूपतः अग्राहय था, अवांछनीय होने के कारण निषेधात्मक रहा था।

वैदिक साहित्य में राजा शब्द का अर्थ इसके प्रयोग के आधार पर भी सिद्ध हो जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'इन्द्रो राजा जगत' अर्थात संसार का राजा इन्द्र है।[104] वेदों में सूर्य शब्द का अर्थ इन्द्र से भी लिया गया है, जो प्रकाश के रूप में संसार का उदबोधक भी है। राजा की सामाजिक आवश्यकता इससे भी स्पष्ट होती है कि उसके गुणों को प्रकट करने वाले उसके अनेक समानार्थी शब्द वेदों में दिये गए हैं जिनमें क्षत्र, क्षत्रिय, भूपत्ति, नृपति, राजेन्द्र, धनपति, विशांपति, सम्राट जैसे शब्द प्राप्त हैं। बलवान से निर्बल की रक्षा करने के कारण और सब प्रकार की क्षतियों से छुटकारा दिलाने के कारण राजा को क्षत्र या क्षत्रिय कहा गया था। भूमि का अधिकारी और राष्ट्र का रक्षक होने के कारण राजा को भूपति कहते थे। मानद जाति के सभी दायित्वों को पूरा करने के कारण राजा नृप या नृपति कहलाता था। क्षत्रियों में

सर्वोच्चता प्राप्त करने के कारण वह राजेन्द्र कहलाता था। राष्ट्रीय कोश का संरक्षक होने के कारण वह धनपति या अर्थपति कहलाता था। आर्थिक संस्थाओं का प्रधान होने के कारण और सभी क्षेत्रों की कूटस्थ समितियों का प्रतिनिधि होने के कारण वह विशापति या विर्श्पाति कहलाता था। इस प्रकार से जब कोई राष्ट्रीय सीमाओं को दिग्विजय के रूप में विस्तार करता था, तब उसे सम्राट की उपाधि दी जाती थी।[105]यही प्राचीन भारतीय राजा शब्द की विभिन्न संज्ञाएं हैं।

## 2. राजा की स्थिति और व्यक्तित्व

वैदिक युग के राष्ट्र या जनपद का मुखिया 'राजा' होता था। राजा तत्कालीन राजनैतिक और नैतिक दोनों प्रकार की विकृतियों के लिए उत्तरदायी होता था। कालान्तर में प्रजा को राजा के अनुचित कार्यों का खण्डन करने का अधिकार था और प्राचीन ऋषि–मुनियों द्वारा बनाए विधि–नियमों का उल्लंघन करने पर राजा को पदच्युत भी किया जा सकता था तथा प्रजा के अन्तर्गत सामान्य लोग भी राजा की कटु आलोचना कर सकते थे। महर्षि वाल्मिकि की रामायण के उत्तरकाण्ड में इसी प्रकार की आलोचना के फलस्वरूप राम को सीता का परित्याग करना पड़ा था।

जब किसी व्यक्ति को राजा के पद के लिए चुना जाता था, तो राजशक्ति के चिन्ह के रूप में उसे वे एक मणि प्रदान किया करते थे।[106]यह मणि सम्भवतः एक 'पर्ण' के रूप में होती थी। राजशक्ति को सूचित करने के लिए राजा इस पर्ण–शाखा को धारण करता था। वैदिक काल में राजा कि प्रतिष्ठा राज्य के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में थी। ऋग्वेद में राजा को राष्ट्र की आत्मा के रूप में स्वीकार किया जाना, इसका प्रतीक है।[107]वैदिक काल में राजा के बिना प्रजा का विकास उसी प्रकार असम्भव माना गया था जिस प्रकार सूर्य के बिना सृष्टि का चैतन्य असम्भव होता है। उस मानव–समाज ने स्वयं ही राज को अपने बीच सर्वोच्य आसन पर बिठाया था। जन समुदाय के बीच राजा को एक वृक्ष के रूप में वर्णित करना भी उसकी श्रेष्ठता का सूचक है।[108]आधुनिक लोकतन्त्र में जिस प्रकार राष्ट्रपति भारत का प्रथम नागरिक है उसी प्रकार प्राचीन भारत में राजा को प्रथम नागरिक और पूज्य व्यक्ति माना जाता था।[109]

पूर्व–वैदिक कालीन कुछ उल्लेख मिलते हैं जिनमें राजा को देवताओं के समान दर्शाया गया है। ऋग्वेद के अनुसार प्रजापति ही संसार का सबसे पहला राजा था। प्रजापति के रूप में राजा को ऋत् अर्थात् मर्यादा का रक्षक माना गया है।[110] ऋत् की रक्षा होने पर समय और धर्म की रक्षा स्वमेव हो जाती है और राजा का कोई भी कार्य नियम–विरूद्ध नहीं हो पाता। महाभारत में राजा युधिष्ठर को दी गई पदवी इसी परम्परा का परिणाम थी।

ऋग्वेद में राजा के दैवी रूप के अन्य उल्लेखों में राजा को सूर्य और अग्नि के समान माना है।[111] जिसका अर्थ है कि राजा में सूर्य और अग्नि का अंश विद्यमान होता है। इसका प्रभाव उत्तर–वैदिक काल में इस रूप में सिद्ध हुआ कि महाभारत में कृष्ण ने राजा और देवराज इन्द्र के समान माना है। यहीं से लौकिक राजा को दैवीय शक्तियों का प्रतीक माना जाने लगा।

राजा की शक्ति और शौर्य के बल पर उसकी शान–शौकत जन साधारण के जीवन यापन से काफी उच्चत्तर होती थी। राजा का निवास स्थान बड़े–बड़े महल होते थे जैसाकि ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि एक हजार स्तम्बों वाले महल में राजा ऐश्वर्य पूर्ण जीवन व्यतीत करता था।[112] वैदिक काल में सामान्य राजाओं की तुलना में पराक्रमी राजा को सम्राट की उपाधि दी जाती थी।इसका स्पष्ट उदाहरण राजा सूदास का दिया जा सकता है। राजा सुदास ने दासराज युद्ध में अन्य दस राजाओं के अपने पराक्रम के बल पर पराजित कर सम्राट की उपाधि धारण की थी। इसके अलावा राजा अपने बाहुबल में पराक्रम से महाराज, महाराजधिराज और एकराज जैसी उपधियाँ भी दी जाती थी। इसके साथ राजा में कुछ व्यसन भी पाए जाते थे जैसे शराब पीना और जुआ खेलना आदि। राजा की सभा के सदस्यों के द्वारा जुआ खेले जाने का वर्णन भी हमें वेदों में प्राप्त होता है।[113]

## 3. राजा की उत्पत्ति और चयन

राजा या राजपद का जन्म कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में अनेक कथाओं, कल्पनाओं एवं तर्कों का आश्रय लिया है। वैदिक काल में पहले

प्रजातन्त्र राज्य बने या राजतन्त्र बने अथवा दोनों का जन्म साथ–साथ हुआ, इस बारे में विचारक एक मत नहीं हैं। प्राचीन भारत में लोग अपने जीवन और संपति की सुरक्षा के लिए राजा की खोज करने निकले। वे राजा को अपनी संपत्ति का कुछ हिस्सा और विवाह में सुंदर कुमारियां देने को भी तैयार हुए। इन्हीं शर्तों पर मनु ने अंततः राजपद स्वीकार किया। पौराणिक अनुश्रुति में प्रथम आनुश्रुतिक राजा मनु स्वायंभुव को ही वर्ण और सदाचार के नियमों की स्थापना का भी श्रेय दिया गया है। मनु के अलावा पृथु को भी महाकाव्यों और पुराणों की अनुश्रुतियों में प्रथम राजा के रूप में दिखलाया गया है।[114]

वेदों में राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। एक विवरण के अनुसार देवताओं और असुरों के बीच संग्राम हुआ। देवता लगातार हारते गए तब उन्होंने एकत्रित होकर हार के कारणों पर विचार किया और पाया कि राजा का न होना इसका मूल कारण है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवताओं ने सोम को अपना राजा और नेता बना दिया और तब वे विजय प्राप्त कर सके।[115] तैतरीय ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र को देवताओं का राजा इसलिए चुना गया कि वह देवताओं में सबसे श्रेष्ठ, यशरवी और शक्तिशाली था।[116] इसी प्रकार की दूसरी कथाएं मनुष्य–जाति को लेकर हैं जिसका उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। एक बार राजा विहीन समाज शत्रुओं के द्वारा बुरी तरह नष्ट–भ्रष्ट हो गया। इसके बाद उन लोगों ने शत्रुओं का सामना करने के लिए एक राजा का चुनाव किया था।[117] शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में एक उल्लेख आया है कि राजा वही बन सकता है जिसे दूसरे लोग राजशक्ति प्रदान करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजा का चुनाव होता था। यह साधारण धारणा थी कि राजा लौकिक व्यक्ति ही होता था पर कहीं–कहीं उसके दैवीय होने का भी उल्लेख है। ऋतादरयु राजा को एक जगह उपदेवता के रूप में स्वीकार किया जाना इस बात का प्रमाण है।[118] इसी प्रकार तैतिरीय ब्राह्मण ग्रन्थ में एक उल्लेख आया है कि राजा वही बन सकता है जिसे दूसरे लोग राजशक्ति प्रदान करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि राजा का चुनाव होता था। यह साधारण धारणा थी कि राजा लौकिक व्यक्ति ही होता

था पर कहीं–कहीं उसके दैवी होने का भी उल्लेख है। ऋसदस्यु राजा की एक जगह उपदेवता के रूप में स्वीकार किया जाना इस बात का प्रमाण है। इसी प्रकार तैतिरीय ब्राह्मण में राजा की उत्पत्ति का कारण प्रजापति की इच्छा को माना है। जो राजा की दैवी उतपत्ति को प्रमाणित करता है। इससे भी पहले वेदों में राजा की दैवी उत्पत्ति का संकेत है।[119] जिसका परम्परागत निरूपण वैदोत्तर युग के रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

राजा कि उत्पत्ति के बारे में महाभारत में एक स्थल पर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि जब अराजक अवस्था में प्रजा वैसे ही नष्ट होने लगी जैसे जल में बड़ी मछली द्वारा छोटी मछली नष्ट कर दी जाती है। उसी प्रकार से समाज में बलवान व्यक्तियों के द्वारा निर्बलों का शोषण हो रहा था। जिससे बचने के लिए लोग ब्रह्मा के पास गए और उनसे राजा नियुक्त करने की प्रार्थना। ब्रह्मा ने मनु को राजा बनाने के लिए कहा परन्तु मनु ने तभी राजा बनना स्वीकार किया जब प्रजा से उन्हें आश्वासन मिले। राजा की उत्पत्ति सम्बन्धी यह कहानी स्पष्टतः दैवी सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं सारांशतः यह कहा जा सकता है कि राजा की उतपत्ति में सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में जो भी विवेचन उपलब्ध है, उसमें राजा के निर्वाचन, देवी उत्पत्ति, शक्ति सिद्धान्त, संविदा सिद्धान्त आदि का समावेश है।

अब जहाँ तक राजा के चयन या निर्वाचन की बात है वह निश्चित रूप से प्रजातात्रिक पद्धति के अनुरूप था। राजा का पद निर्वाचित होने के सम्बन्ध में सभी विचारक एक मत नहीं हैं। प्रो० अल्तेकर ने ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि वैदिक साहित्य में राजपद निर्वाचित था।[120] वेदों के अनुसार राजा का चुनाव विशः और पंच–प्रदिश करते थे।[121] यहां 'वृजताम्' का प्रयोग इस बात का साक्षी है कि राजा का चुनाव किया जाता था न कि जनता द्वारा राजा की स्वीकृति की जाती थी, जैसाकि डॉ० यू० एन० घोषाल ने भ्रान्तिवश स्वीकार किया है।[122] अथर्ववेद की एक दूसरी ऋचा में 'सर्वाःसंगत्य वरीयस्ते अक्रन' के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि प्रजाजन ही राजा के वरीय पद का फैसला करते थे।[123]

प्राचीन काल में भी राजा का चुनाव–प्रचार किया जाता था, जिसके संकेत वेदों में प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद में एक जगह निर्वाचकों से अभ्यर्थना की गई है कि आप लोग स्वराष्ट्र के वासिन्दे हैं अतः इसे (राष्ट्र को) अमुक व्यक्ति को प्रदान करें, अर्थात इस राष्ट्र के राजा के रूप में अमुक व्यक्ति को चुने।

वेदोत्तर काल में राजा की चयन प्रक्रिया में गिरावट दिखाई देती है जैसाकि महाभारत में राम के वनवास के साथ भरत को गद्दी दिलाने के षड़यंत्र से सिद्ध होता है। इस प्रकार से वैदिक काल के परवर्ती काल में राजा के चुनाव की विभिन्न प्रतिक्रियाएं परिस्थिति के अनुरोध से बनती–बिगड़ती रही थी।

## 4. राज्याभिषेक

वैदिक काल में राजा को राज्याभिषेक करवाने से पहले युवराज बनने की प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती थी। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत युवराज को यह सिद्ध करना होता था कि वह राजा बनने योग्य है।[124] शतपथ, ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राजा के जीवन में राज्याभिषेक संस्कार अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था। प्रत्येक राजा को राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् अपने पुरोहितों द्वारा राज्याभिषेक करवाना पड़ता था। उसके पश्चात् वह 'मूर्धाभिषिक्त' राजा कहलाता था। विभिन्न तीर्थों के जल से राजा का पुरोहित के द्वारा जल छिड़क कर राज्याभिषेक किया जाता था तथा उसे रत्नहविष् प्रदान करने पड़ते थे।[125]

पुरोहित स्वयं राजा के सिर पर जल–छिड़कर यह प्रार्थना करता था कि ये तीर्थजल राजा के लिए कल्याण–प्रद हो, ये उसे अधिराज बनने में मदद करें, इन्द्रादि देवता इसके लिए बल, यज्ञ और अन्नादि का प्रावधान करें।"[126] तत्पश्चात् राजा को राजसिंहासन पर बैठाकर तिलक किया जाता था। राज्याभिषेक की यह वैदिक कालीन परम्पराएं पीछे हजारों वर्षों तक ज्यों कि त्यों प्रचलित रही थी और आज भी इस प्रकार की परम्पराएं समाज में किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं।

वैदिक कालीन राज्याभिषेक से कुछ याज्ञिक अनुष्ठान भी सम्बन्धित थे। जैसे जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित किया जाता था, तो उस समय

'राजसूय यज्ञ' का अनुष्ठान किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है कि – "राजा के लिए ही राजसूय है, राजसूय यज्ञ करने से ही राज्य बनता है।' जो व्यक्ति सम्राट पद को प्राप्त करना चाहे, उसके लिए वाजपेय यज्ञ का विधान था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है – "वाजपेय से सम्राट बनता है।"[127] इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में एक अन्य उल्लेख मिलता है कि वैदिक काल में राजपद का वैध अधिकारी क्षत्रिय को माना जाता था। राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर एकत्रित जन समूह के समक्ष ब्राह्मण पुरोहित स्पष्ट एवं उच्च स्वर में एक घोषणा करता था। इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है– 'सधोऽभिषिक्त' यह क्षत्रिय प्रजा का राजा हुआ।[128] हम ब्राह्मणों का राजा सोम् है। इस प्रकार से वैदिक राजपद ब्रह्म–नियंत्रित था और राज्याभिषेक के सभी अनुष्ठान ब्राह्मणों द्वारा राम्पन्न करवाए जाते थे।

इस प्रकार से वैदिक कालीन राज्यभिषेक का एक ही औचित्य था कि इस क्रिया के अन्तर्गत ब्रह्म तेज (पुरोहित के रूप में) से अस्त्र तेज (क्षत्रिय के रूप में) सन्नद्ध किया जाता था। वैदिक कालीन राज्य की श्रेष्ठता और समृद्धि के लिए इन दोनों ब्रह्म और क्षत्र का होना आवश्यक था। साधारणतः शब्दों में विधि–निर्माण के लिए ब्राह्मण और विधि को क्रियान्वित करने के लिए या लागू करने के लिए क्षत्रिय की आवश्यकता होती थी। इसी पद्धति के कारण भारतीय राजा निरंकुशता की ओर नहीं बढ सकता था।

## 5. शपथ ग्रहण समारोह

राज्यभिषेक सम्बन्धी कृत्यों में प्रस्तावित राजा द्वारा शपथ ग्रहण करने का कृत्य भी महत्वपूर्ण होता था। वैदिक काल में अभिषिक्त राजा को जो शपथें लेनी होती थी, उनकी शब्दावली जनतांत्रिक होती थी। एक शपथ में वह कहता था–"जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिसमें मेरी मृत्यु होगी, उसके बीच में (सम्पूर्ण जीवनकाल) जो भी इष्टापूर्व (शुभ कर्म) मैंने किये हों, वे सब नष्ट हो जाएँ और मैं अपने सब सुकृतों, आयु और पूजा से वंचित हो जाऊ, यदि मैं किसी भी प्रकार से आपके विरूद्ध द्रोह करूँ।"[129] यह शपथ राजा को अत्यन्त श्रद्धा के साथ लेनी होती थी। राज्य में चाहे किसी भी प्रकार की शासन–प्रणाली हो, राज्य–शासन का प्रकार साम्राज्य, भौज्य,

स्वाराज्य, वैराज्य, परमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य, आधिपत्य और सार्वभौम आदि में से चाहे किसी भी ढंग का हो, परन्तु शासन की शक्ति जिस भी व्यक्ति के हाथों में हो जाती थी, उसे यही शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी।[130]

ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार की शपथ का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण साहित्य में जो राजकीय शपथ की जो उपर्युक्त शब्दावली दी हुई है उसका स्वरूप भी जनतात्रिक है। शपथ ग्रहण समारोह का प्रमुख वैशिष्ट्य दो रूपा में था–(1) पुरोहित के द्वारा राजा की दीक्षामयी चेतावनी और (2) राजा के द्वारा तदनुरूप शपथ ग्रहण। पुरोहित के द्वारा राजा को दी गई दीक्षामयी चेतावनी इन शब्दों में होती थी कि–'यदि तुमने मुझ से द्रोह किया तो तुम्हारे सारे जीवन के शुभकर्म समाप्त हो जाएगें इसके उत्तर में राज्य शपथ लेता था कि–'यदि मैं ब्राह्मण तथा प्रजा से द्रोह करूं तो मेरे सभी पुण्य नष्ट हो जाएं।[131]

वैदिक काल और उत्तर–वैदिक में इस प्रकार का शपथ समारोह अनेक रूपों में दिखाई देता है। और इस समारोह का उल्लंघन करने वाले राजा को पदच्युत भी कर दिया जाता था। महाभारत में भी राजकीय शपथ का, जो कि प्रस्तावित राजा अपने राज्यभिषेक के अवसर पर ग्रहण करता था, उल्लेख हुआ है। महाभारत में ही यह उल्लेख मिलता है कि राजा नहुष का पतन इसी शपथ को तोड़ने के कारण हुआ था।[132] अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने भी दक्षिण में केरल की उत्पत्ति के प्रसंग में वहां के राजाओं के शपथ–समारोह का विस्तृत उल्लेख किया है।[133]

इस प्रकार वैदिक युग में प्रस्तावित राजा के राज्यभिषेक के अवसर पर जो शपथ उसे ग्रहण करनी पड़ती थी, वह उसकी आत्मा को जीवित रखने का निरन्तर प्रयास हुआ है। राजकीय शपथ ग्रहण करने की वैदिक पद्धति का पालन कम से कम महाभारत के शान्ति पर्व के रचनाकाल तक अवश्य प्रचलित रहा।

## 6. राजा का कार्यक्षेत्र

वैदिक दृष्टिकोण से राजा का प्रमुख कार्य युद्ध काल में शत्रुओं से रक्षा और शान्तिकाल में प्रजा पालन था। वैदिक कालीन राजा का कार्यक्षेत्र तत्कालीन

राजतंत्र के प्रजातान्त्रिक ढंग पर आधारित था। कालान्तर में राजा के प्रमुख कार्य प्रजा तथा राष्ट्र को रक्षा, न्याय की उन्नति, सार्वजनिक कार्य और संस्कृति का प्रकार आदि माने गए थे। देवताओं की सरकार के आदर्श पर मनु या मनुष्य जाति की सरकार वैदिक काल में निर्मित हुई थी। देवलोक की सुरक्षा का दायित्व राजा इन्द्र पर था। देवताओं और ऋषियों की यही कामना थी कि इन्द्र के द्वारा उनकी रक्षा और राज्य–व्यवस्था बनी रहे।[134] इसी प्रकार से पृथ्वी लोक में प्रजापति के रूप में राजा कि स्थिति थी और इसीलिए वह प्राणियों का शासक, स्वामी तथा सबको शरण देने वाला कहा गया है।[135] ऋत धर्म के रूप में समस्त नैतिक विधियों की रक्षा करने का दायित्व भी प्रजापति के रूप में राजा पर ही था।[136] ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है कि शासक का यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह देवताओं और सज्जनों की रक्षा असुरों अर्थात दुष्टजनों से हमेशा करता रहे।[137] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र के राज्याभिषेक के समान ही मनुष्य जाति के राजाओं के अभिषेक की बात कही गई है। इसी के आधार पर मनु ने कहा था कि इस संसार की रक्षा करने के लिए ही विधाता ने राजा को बनाया था। रामायण में भी कहा गया है कि जब देवताओं का राज्य इन्द्र के द्वारा सुरक्षित हो गया तब मनुष्यों ने भी मनु को राजा के रूप में प्राप्त करके अपने राज्य को शत्रुओं से सुरक्षित किया।[138]

महाभारत में भी एक उल्लेख है कि प्रजा रक्षणीय होती है और उसकी रक्षा करना राजा का धर्म होता है। जो राजा प्रजा की रक्षा करने में सक्षम होता है वही समस्त राजाओं का शिरोमणि होता है।[139] जो राजा प्रजा कि रक्षा करने में असमर्थ होता है उसका राजा होना निरर्थक है। प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्य की व्याख्या करते हुए, महर्षि वेदव्यास ने लिखा है– प्रजा का कार्य ही राजा का सर्वस्व है, राजा के स्वयं के लिए कुछ भी नहीं है।

"उपर्युक्त विवेचन से हमारा अभिप्राय है कि वैदिक युग में प्रजा और राष्ट्र की रक्षा के लिए जो सूत्र रूप में उल्लेख है उसी का बहुमुखी विस्तार वेदोत्तर ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस प्रकार से कहा तो वैदिक राजतंत्र का यह राजा, जिसका सर्वस्व प्रजा के रूप में अंकित किया गया है और कहां पश्चिमी राजतंत्र का वह निरंकुश राजा,

जो अपने स्वार्थ के लिए प्रजा पर अत्याचार करता था।

वैदिक कालीन राजा के बारे में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य वर्ष के आठ महीनों में अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी से धीरे–धीरे जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रजा से धीरे–धीरे मात्रा में कर ग्रहण करें और उसे जनता के कल्याण में ही खर्च करें।[140] राजा को विभिन्न देवताओं के सदृश इसलिए बताया गया है क्योंकि वह प्राप्त करों को लोक–कल्याण में व्यय करता है। महाभारत में राजा की तुलना एक गर्भवती स्त्री से की गई है। जिस प्रकार एक गर्भवती स्त्री अपने गर्भस्थ जीव के शुभ की दृष्टि से कार्य करती है उसी प्रकार राजा को भी जनता की इच्छा का पालन करना चाहिए। राजसूय यज्ञ के अवसर पर जब प्रथम बार राजा सिहांसन पर बैठता था। तब पुरोहित उससे कहता था कि कृषिकर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए और पोषण के लिए यह राज्य तुम्हें दिया जाता है।

अपने राज्य को उन्नत बनाना ही राजा का प्रमुख कर्तव्य या कार्य होता था। अथर्ववेद में यह प्रार्थना आई है कि धन एवं कोश का स्वामी राजा सोम सत्य मार्ग पर चलकर अपनी प्रजा को हजारों गायों और घोड़ों से सम्पन्न बनाए।[141] ऋग्वेद के अनुसार खेतों की सिंचाई तथा अन्य सुविधाओं के लिए राजा जहां–तहां कुआं, तालाब और नहरों का निर्माण कराता था।[142] अपने साम्राज्य के विस्तार लिए देश–विदेशों के साथ सम्पर्क स्थापित करना भी राजा का प्रमुख कार्य था। वेदोत्तर काल में इस प्रकार के सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गए थे जैसाकि सम्राट अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार धर्म, राजनीति, न्याय, अर्थव्यवस्था, प्रशासन, जन–कल्याण आदि विभिन्न क्षेत्रों में राजा द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न किए जाते थे। अन्ततः उपर्युक्त तथ्यों और साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है वैदिक राजतंत्र के अन्तर्गत जनतांत्रिक शासन तन्त्र का विकास हुआ।

## 7. पदत्याग

वैदिक साहित्य में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि राजा को किन–किन परिस्थितियों में राजा को अपने पद से हटाया जा सकता था, यह प्राचीन

भारत के राजतंत्र की जनतांत्रिक व्यवस्था का ही प्रमाण है। वेदों में इस प्रकार का वर्णन भी मिलता है कि यदि अग्नियाँ राजपुरोहित द्वारा दी गई अर्चना को ग्रहण नं करें तो वे अप्रसन्न या असन्तुष्ट मानी जाती है, ऐसी अवस्था में वे यजमान (राजा) को स्वर्ग, क्षतित्व, शक्ति, राष्ट्र एवं प्रजा से रहित कर देती है।[143] यहां रूपक पद्धतियों से अग्नियों का अर्थ है महान् अग्नि राज्यसभा की प्रतीक और अग्नियां राज्यसभा के सभासदों की प्रतीक थीं। इसका अर्थ यह है कि जो राजपुरोहित राजा का बहुत कुछ दायित्व अपने सिर पर लिये रहता था वह भी विपरीत परिस्थितियों में राजा की ओर से सदस्यों को अनुकूल बनाने में असमर्थ हो जाता था और राजा को अपने पद के साथ सभी प्रकार के राज्य–वैभव से छूट्टी हो जाती थी।

अथर्ववेद के ही एक मंत्र में कहा गया है कि राजा के अनुचित और राज्य–विरोधी कार्यों पर समिति विचार किया करती थी और राज के दोषी पाये जाने पर उसे अपदस्थ कर देती थी।[144] ऐसा निश्चय ही प्रजाहित को ध्यान में रखकर किया जाता था। जिसका उदेश्य राजा की निरंकुशता और स्वच्छन्दता पर अंकुश लगाना था। यह व्यवस्था निश्चय ही जनतांत्रिक थी जिसके रहते किसी भी राजतंत्र को उस मोनार्की का सामानार्थी नहीं कहा जा सकता जो पश्चिम के प्राचीन शासनतंत्र में राजा का आतंक रखने के लिए बदनाम थी।

वाल्मीकी की रामायण तथा अन्य उत्तर–वैदिक कालीन ग्रन्थों से पता चलता है कि राजा को हटाने के लिए उसकी अनुचित नीति जिम्मेदार होती थी। दक्षिणी भारत में महर्षि परशुराम और अगस्त्य इस कार्य में संलग्न थे। केरल और उसके आस–पास के प्रदेशों पर परशुराम का नियंत्रण था और बाकी दक्षिणी प्रदेशों पर अगस्त्य का पूरा–पूरा नियंत्रण था।[145] ये लोग राजा की तानाशाही से ऊब कर उसे यथा समय हटाते रहते थे। केरल में यह अवधि बारह वर्ष की मानी गई थी जिसे यूनानी वहीं के उत्तर में तिलई मंदिर के सामने उत्सव–रूप में सम्पन्न कराने की परम्परा बन गई थी।[146]

मनु की वर्णाश्रम–व्यवस्था का एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि इसके

आधार पर राजा और युवराज के बीच सम्भावित संघर्ष सदा के लिए समाप्त हो गया। युवराज के बनने के बाद ही यह तय हो जाता था कि राजा अब वाणप्रस्थाश्रम ग्रहण करेगें। इसका अर्थ यह है कि समय अपने पर राजसिंहासन छोड़ देना राजाओं की नैतिक जिम्मेदारी बन जाती थी और नैतिकता की स्वीकृति जनतांत्रिक व्यवस्था का सबसे बड़ा पक्ष है जिसका पालन करना भारत के प्राचीन राजतंत्र की वास्तविक धुरी थी।

## 8. कर-नीति

ऋग्वेद से कुछ ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिक राजा विविध प्रकार के करों द्वारा अपनी प्रजा से धन संचय करता था। इनमें बलि और शुल्क मुख्य कर थे।[147] ऋग्वेद में कई प्रसंग हैं जिनमें इस ओर संकेत किया गया है कि देवों ने राजा को अपने अधीन प्रजा से बलि प्राप्त करने का अधिकारी बनाया। इसी वेद के सातवें मण्डल के सूक्त छः के एक मंत्र में यह उल्लेख है कि अग्निदेव के प्रताप से राजपद से वंचित राजा नहुष बलपूर्वक अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करने लगा था। अथर्ववेद में एक अन्य स्थल पर ब्रह्मगवी के महत्व का उल्लेख करते हुए व्यवस्था दी गयी है कि ब्रह्मज्ञानी शुल्क–मुक्त रहते हैं।[148] इस उल्लेख से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि शुल्क एक प्रकार का कर था।

मनु ने प्रजा से थोड़ी ही मात्रा में कर लेने की व्यवस्था की है। इस विषय में उसने जोंक, बछड़े और भौंरे के दृष्टांत दिये है। जिस प्रकार भौंरा सब फूलों से थोड़ा–थोड़ा रस ग्रहण करता है वैसे ही राजा को प्रजाजनों से कर अल्प मात्रा में ही लेना चाहिएं अत्यधिक लोभ से अपने व दूसरों के सुख के मूल को नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो ऐसा करता है वह अपनी जड़ काटता है।[149] और अपने प्रजाजनों को कष्ट पहुँचाता है। मनु के अनुसार राजा को पशु और सुर्वण के लाभ का पचासवाँ हिस्सा, धान्य का आठवाँ, छठा या बारहवाँ हिस्सा कर में लेना चाहिए। वृक्ष, मांस, मधु, धृत, गंध ओषधि, रस, पुष्प, फूल, फल, चर्म तथा मिट्टी, पत्थर की वस्तुओं की आय का छठा हिस्सा लिया जाना चाहिए।[150] वैदिक साहित्य में राजा के राज्यभिषेक के प्रसंग

में राजा को 'विशामता' कहा गया है इससे भी यह सिद्ध होता है कि राजा नियमित रूप से प्रजा से कर लेने लगा था।[51]

ऋग्वेद के न्यायोचित कर ग्रहण की व्याख्या एक वैतनिक सिद्धान्त के रूप में भी प्राप्त होती है। ऐसा उस स्थिति में संभव था जब करों को प्रजा ने बोझ के रूप में अनुभव किया होगा और इसलिए करों की न्यायता राजा के लिए एक वेतन भोगी के रूप में प्रमाणित की जाने लगी थी। इसी प्रकार से शुक्राचार्य को भी यही घोषित करना पड़ा था कि राजा को स्वामी होने पर प्रजा का पालक और सेवक समझना चाहिए, जिसके बदले में वह कर प्राप्त करता है।

परन्तु कर सम्बन्धी वैतनिक सिद्धान्त का यह अर्थ नही है कि करों की आय से केवल राज–परिवार का ही पोषण होता था। इन करों का बहुत बड़ा भाग शासन व्यवस्था पर खर्च होता था, जिसके अन्तर्गत सरकारी कर्मचारियों के वेतन, सार्वजनिक निर्माण, सेना और युद्ध पर किये गए व्यय आदि के रूप में अनेकानेक दायित्व पूरे किये जाते थे।

वैदिक और वेदोत्तर काल में जो कर नीति थी उसके नियम और सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन मिलता है जिसका यहां विवेचन करना उचित न होगा। यहां केवल ऋग्वेद में जो न्याय पूर्वक कर–ग्रहण करने की विधि थी उस पर एक विश्लेषणात्मक दृष्टि डाली गई, जिसके अन्तर्गत प्राचीन भारत में जनतंत्रात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है।

## 9. निजि तंत्र या प्रतिनिधि संस्थाएं

वैदिक कालीन राजा के निजि तंत्र से हमारा अभिप्राय है कि ऐसा शासन तंत्र जिसमें अधिकतर मन्त्री या अधिकारी राजा के द्वारा स्वयं नियुक्त किए गए हों या जिसमे राजा के सगे–सम्बन्धि उसकी राजकीय कार्यों में सहायता करते थे। ऐसे शासन–तंत्र में पुरोहित, प्रधानमंत्री, सेनापति, मन्त्रिमण्डल या मन्त्रिपरिषद आदि का समावेश होता है। इस प्रकार का तंत्र पूर्व–वैदिक युग में प्रचलित था। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस शासन–तंत्र में ऐसा कौन–सा जनजांत्रिक रूप था, जिसके

कारण इसे इस प्रकरण में रखा गया है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि यह राजनीतिक रूप से बहुत–कुछ राजा की नीजि इच्छा का निर्माण था। किन्तु फिर भी एक सीमा तक यह जनतंत्र का ही रूप था। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि राजा का चुनाव आर्थिक संस्था (विश) और पंचप्रदिश (ग्रामसमितियों) के द्वारा होता था, इसलिए राजा जनता का प्रतिनिधि होता था, ठीक उसी प्रकार से जैसे आज की प्रजातांत्रिक संसद–प्रणाली के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री प्रजा का प्रतिनिधि होता है। जिस प्रकार आज का प्रधानमन्त्री अपनी इच्छानुसार मन्त्रीमण्डल का गठन करता है और यह मन्त्रीमण्डल भी जनता का प्रतिनिधि होता है। लगभग उसी तरह वैदिककालीन राजा जनता का प्रतिनिधि होने के नाते जिस मन्त्रीपरिषद् का गठन करता था, वह भी जनता की प्रतिनिधि संस्था होने के लिए बाध्य थी।

एक अन्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रजा के योगक्षेम का दायित्व जिस प्रकार राजा के ऊपर था उसी प्रकार उसके पुरोहित, अमात्य और मन्त्रिसमूह के ऊपर भी था और यही एक बिन्दु था जिस पर राजा ओर उसका निजि तंत्र सदा एकमत रहते थे। कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य के अन्दर राज्य के सातों अंगों पर विचार किया है।[152] परन्तु राज्य के सात अंगों की कल्पना वैदिक साहित्य के बाद की बात है। वस्तुतः यहां पर हम राजा के निजि तंत्र के रूप में उसके मन्त्रिमण्डल या मन्त्रिपरिषद् का वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं कि राजा की नियुक्ति अर्थ संस्था और ग्रामसमितियों की इच्छा का परिणाम होने के कारण राजा जनता का प्रतिनिधि था और मन्त्रिमण्डल राजा की इच्छा का परिणाम होने के कारण राजा की प्रतिनिधि संस्था थी। साधारण शब्दों में राजा जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि था तो मन्त्रिपरिषद् जनता की अप्रत्यक्ष प्रतिनिधि संस्था थी।

मन्त्रिपरिषद् राजा की सर्वोच्च समिति होती थी। राजा इस मन्त्रिपरिषद् के अध्यक्ष की हैसियत से इसका सदस्य चुना जाता था। अन्य मंत्रियों में जो सर्वश्रेष्ठ होता था उसे प्रधानमंत्री का पद मिलता था। प्रारम्भ में मंत्रों को बोलने वाले मन्त्रोंपदेशकों को मन्त्री कहा जाता था।[153] किन्तु पीछे राजनैतिक क्षेत्र में इसका प्रयोग राजा को

परामर्श देने वाले अधिकारी के अर्थ में होने लगा था। वेदों में सात मंत्रियों के प्रतीक सप्तर्षि लोग राजा के साथ बैठकर मत व्यक्त करते हुए अनेक बार दिखाये हैं।[154]

वस्तुतः मंत्रिपरिषद के सदस्यो का यह अधिकार था कि वे गुण विवेक के आधार पर युवराज का चुनाव करते थे। राज्यभिषेक के बाद मंत्री लोग ही राजा की घोषणा करते थे। राज्यभिषेक की यह प्रक्रिया बहुत हद तक जनतांत्रिक ही होती थी। मन्त्रियों की संख्या वैदिककाल में अधिक–से–अधिक सात रखी गई थी।[155] वेदों में इन मन्त्रियों को सप्तर्षियों के नाम से पुकारने की प्रथा बन गई थी। अन्ततः कौटिल्य का निर्णय यह था कि संख्या पर विवाद करना बेकार है और मन्त्रियों की संख्या चाहे जो भी हो। इन मन्त्रियों की योग्यता की कसौटी का पता, इसी से लग जाता है कि इन्हें सप्तर्षि होने की सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी गई थी।

सबसे पहले पुरोहित पद में ही लीजीए। यजुर्वेद में पुरोहित शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जो ऋषि अग्नि के समान पांचों प्रजाओं को पवित्र करने वाला है वह पुरोहित कहलाता है। इस प्रकार पुर : शब्द पूर्वक था (डुधा धारण पोषणयो :) धातु से अथवा हि धातु से क्त प्रत्यय लगने पर पुरोहित शब्द की सिद्धी होती है। राजा को भी अपना राज्यभिषेक कराने से पहले पुरोहित का वरण करना होता था। इस परम्परा का उल्लेख महाभारत में किया है।[156] अभिप्राय यह है कि मूलतः आध्यात्मिक क्षेत्र में उतरा और राजगुरू होने के साथ–साथ अमात्य के अर्थ में प्रतिष्ठित हो गया। शासनतंत्र की स्थापना के समय राजा के लिए भी पौरोहित्य की आवश्यकता हुई, क्योंकि शासन तंत्र में जितनी आवश्यकता प्रभावशक्ति और उत्साह शक्ति की थी उससे कहीं अधिक मंत्रशक्ति की थी।

प्रधानमंत्री शब्द भी पुरोहित की भांति अमात्य शब्द की अर्थपरिधि में आता है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है जहां अंगिरा को सात ज्योतियों का और बृहस्पति को सात मेधावी पुरूषों का प्रधान माना गया है।[157] पुरोहित में राजनैतिक सम्बन्धी मंत्राधानों में राजसिंहासन और राष्ट्र की रक्षा का प्रावधान किया गया था, इसका साक्षी ऐतरेय ब्राह्मण है।[158] इससे यही ज्ञात होता है कि वैदिक युग में प्रधान

मंत्री का दायित्व भी पुरोहित को ही निभाना होता था। यह बहुत बाद की बात है कि पुरोहित और प्रधानमंत्री के पद अलग–अलग मान लिए गए। महाभारत में भी प्रधानमंत्री की अलग स्थिति का संकेत मिलता है। जिसमें प्रधान मंत्री को यशस्वी मर्यादा प्रमी, समर्थ, पूर्वाग्रह रहित, संयमी, धर्मनिष्ठ और सोच–समझकर काम करने वाला होना चाहिए।[159]

सेनापति को अमात्य का तीसरा विशिष्ट रूप समझना चाहिए। जैसाकि मनुस्मृति में प्रतिपादित किया गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरोहित, प्रधानमन्त्री और सेनापति ये तीनों ही पद इतने महत्वपूर्ण थे कि इनका निर्वाह करने वाला व्यक्ति राजा के सदैव सन्निहित होने के कारण विशेष अमात्य कहलाता था।

## (छ) वैदिक साहित्य में प्रतिनिधि संस्थाएँ

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने वैदिक साहित्य से प्राप्त तथ्यों ओर साक्ष्यों के आधार पर वेदकालीन शासन तंत्र पर विचार मंथन किया है, इस मंथन के बाद वैदिक कालीन जनतन्त्र के अनेक रूप हमारे सामने प्रकट होते हैं। वैदिक साहित्य में जनतन्त्र का एक ऐसा रूप प्राप्त होता है जो नितान्त आदि कालीन था और जिसमें कोई शासक या राजा नहीं था। अपने आदिम रूप में यह मत्स्य–न्याय या जमल न्याय से पीड़ित था, क्योंकि इसमें बड़ों के द्वारा छोटे ओर बलवानों के द्वारा निर्बल सताये जाते थे।

आदिकाल से राज्य की उत्पत्ति होने तक समाज दो विभिन्न अवस्थाओं से निकला है, जिनको अराजक और वैराज्य नाम दिया जाता है।[160] अतः इन दोनों अवस्थाओं पर भी विचार कर लेना चाहिए। वैदिक काल में साधारण लोगों ने मिल–जुल कर जो सामान्य आचार–संहिता निश्चित की और आराम से जीवन व्यतीत कर आरम्भ किया, वह वैराज्य की स्थिति थी, क्योंकि यह शासन तंत्र राजा विहीन था। इसी प्रकार की शासन व्यवस्था स्वाराज्य की थी, जिसमें किसी को शासक तो रख लिया जाता था। परन्तु उसका प्रयत्न यह होता था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने आप को ऐसा नियमित और संयमित बना ले कि समाज में वर्ग–संघर्ष की समस्या ही

न आए।[161] पारमेष्ठय राज्य पारिवारिक अनुशासन की नींव पर खड़ा हुआ था। परमेष्ठी ब्रह्मा या प्रजापति को कहते हैं, इसीलिए पारमेष्ठ्य राज्य का शासक प्रजापति की भाँति न्याय–प्रिय समझे जाते थे, इसलिए इस राज्य में राजतंत्र की गन्ध भी नहीं थी।[162] जानराज्य में घुमन्तु जातियों ने अपने–अपने जंगम कबीले पारिवारिक अनुशासन के आधार पर बना रखे थे, एक अवस्था ऐसी भी आई जब एक राज्य दूसरे राज्य पर चढ़ाई करने लगा। यहीं से साम्राज्य का सूत्रपात हुआ और राष्ट्र की भावना विकसित होनी प्रारम्भ हुई।

उपर्युक्त विवेचन में हमने वैदिक कालीन राज्य के अनेक रूपों का वर्णन किया है, इन सभी राज्यों को साधारणतः हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वर्ग वह जहाँ राजा की स्थिति बिल्कुल न थी। दूसरे वर्ग में वे राज्य रखे जा सकते हैं जिनमें राजकीय सत्ता का उदय हो चुका था, परन्तु इसमें राजतंत्र का रूप जनतांत्रिक या प्रजातांत्रिक विधि का पूरी तरह समर्थक था। इसलिए वह राजतंत्र के ढाँचे में जनतंत्र या प्रजातंत्र का ही रूप था। इन्हीं दो वर्गों में हमें वैदिक कालीन प्रतिनिधि संस्थाओं का विचार करना है।

अब जहां तक प्रतिनिधि–संस्थाओं के विवेचन की बात है। उसमें प्रतिनिधि शब्द व्याख्या –सापेक्ष है। प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का निरूपण हम प्रथम अध्याय में कर चुकें हैं। यहाँ पर संक्षिप्त रूप से प्रतिनिधि होने का सामान्य अर्थ है कि जब कोई व्यक्ति या समाज किसी जन समाज की भलाई के लिए अपने आपको प्रतिबद्ध समझकर उसकी तरफ से काम करें और उसका दायित्व अपने ऊपर ले तो ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति या संस्थान उस जन–समाज का प्रतिनिधि कहलाता है।

यहां एक अन्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि आदि कालीन सामाजिक संगठन के अन्तर्गत राजनैतिक व्यवस्था ने जन्म ग्रहण किया था, यह संसार के प्रत्येक राष्ट्र के राजनैतिक तंत्र के उद्भव और विकास का इतिहास है। भारत का यह आदिकालीन सामाजिक संगठन ऋत और सत्य पर आधारित था, इसलिए इस युग की राजनीति का उदय भी 'ऋत' तत्व की व्याख्या के प्रकाश में हुआ था।[163]

वैदिक काल के सामान्य राज्यों में गणतन्त्र राज्यों एवं राजतंत्र के ढाँचे में चलने वाले जनतांत्रिक राज्यों में सभा–समितियां होती थी, जो प्रतिनिधि संस्थाओं का काम करती थी। इस प्रकार से वैदिक काल के शासन तंत्र में अपने को राजा कहने वाला व्यक्ति भी निरंकुश नही हो सकता था, जैसाकि पश्चिमी इतिहास में देखने को मिलता है।

## (I) प्रतिनिधि संस्थाओं के स्रोत और पूर्वरूप

मनुष्य ने जब सर्वप्रथम संसार को देखा होगा, तब तो अवश्य ही उसमें पशुबल का महत्व पाया होगा। मनुष्य को शारीरिक शक्ति से अधिक शक्तिशाली अनेक जीव सृष्टि में दिखाई देते थे, जो निरन्तर अपने से निर्बलों का संहार करते रहते थे, यह देखकर मनुष्य का ध्यान शक्ति के महत्व की ओर गया। उसने अपनी शक्तियों पर विशेष चिन्तन किया और अपने में बौद्धिक शक्ति अन्य प्राणियों से अधिक पायी। अतः अपनी बौद्धिक शक्ति के विकास और उपयोग की ओर उसका ध्यान गया। उसने चिन्तन किया और सूर्य के प्रकाश को अपनी जीवन–शक्ति का विशेष आधार समझा।[164] सर्वप्रथम सूर्य के रूप में उसको अग्नि के दर्शन हुए। कालान्तर में अग्नि का लाभ उसे सूर्य से भी अधिक मिला क्योंकि जलाने और खाना पकाने के साथ–साथ जंगली जानवरों से सुरक्षा करने में भी वह अन्यतम सहायक था। यही कारण था कि ऋग्वेद के पहले मंत्र में ही मनुष्य ने अग्नि का वरण किया है।[165] इस प्रकार से सामाजिक उपयोगिता की विभिन्न पद्धतियों के आधार पर बनने वाले समाज के वर्ग–विशेष और जाति विशेष ही सामाजिक संस्थाओं के आदि स्रोत और प्रारम्भिक रूप थे।

अग्नि की शक्ति के खोजने के पश्चात् मनुष्य ने प्रकृति के अन्य तत्वों पर भी ध्यान दिया और जल, वायु, विधुत आदि में भी महान् शक्तियों का अवलोकन किया। मानव–उत्थान में इन शक्तियों का विशेष महत्व जानकर, इनको वरूण, वायु, इन्द्र आदि अनेक नाम देकर, मनुष्य इन शक्तियों में श्रद्धा और विश्वास रखने लगा।[166] प्रकृति के सभी कार्य विधिवत होते देखकर, उसे उनमें विधि की प्रधानता का बोध हुआ। इसीलिए वेदों में विभिन्न स्थानों पर ब्रह्म शब्द विधि अथवा मंत्र, ओर ब्रह्मा शब्द विधि

I का ज्ञान रखने वाले विधिवेता के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[167] ब्रह्मा के रूप में जो ज्ञान था वह दार्शनिक होने के साथ–साथ विश्वसनीय भी था इसलिए उसका विचार करने के लिए मिल कर बैठने वाले ब्रह्मा के पुत्रों का संगठन भी सामाजिक संस्थाओं का अन्यतम उदाहरण था।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल से विदित होता है कि यज्ञ करने के लिए बहुत से मनुष्य एकत्रित हुआ करते थे; उदगाता गान करते थे, श्रोता स्तुति करते थे और अन्य ब्राह्मण उनको आदेश देते थे।[168] इसी प्रकार यज्ञ को सर्वत्र सामूहिक कार्य के रूप में वर्णित किया गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि बहुत से गृह एक स्थान पर बनाकर लोग जनसमुदाय के रूप में रहते थे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही ब्रह्मणस्पति और सदस्पति शब्द भी मिलते हैं।[169] इससे विदित होता है कि वे लोग सभा के रूप में भी एकत्रित होते थे और विद्वानों के नेता तथा सभापति की भी नियुक्ति होती थी।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही हमें 'विश्पति' शब्द मिलता है, जो कि अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है।[170] यहां अग्नि और विश् ये दोनों ही शब्द प्रतीक पद्धति के संकेतक हैं। यह उल्लेख भी प्राप्त होता है कि 'अग्नि' का प्रयोग विद्वान के लिए और 'महानअग्नि' का प्रयोग विद्वानों की महासभा के लिए प्रचलित था। इसके बारे में एक उल्लेख यह भी मिलता है कि इस अग्नि का अर्थात इस प्रकार के गुण सम्पन्न मतिमान पुरूष का वरण ब्राह्मण लोग करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्राह्मण अर्थात विधि–विशेषज्ञ लोग किसी बुद्धिमान व्यक्ति को अग्नि अर्थात विश्पति के रूप में चुनते थे।[171]

विश शब्द का अर्थ समझने के लिए हमको विश की उत्पत्ति पर ध्यान देना आवश्यक है। बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ ब्राह्मण में इस विषय में एक मन्त्र मिलता है, जिसका अर्थ है– सर्वप्रथम केवल ब्रह्म ही था। उससे सभी कार्य सम्पन्न न हो सके, इसलिए पालनादि कार्य के लिए क्षत्रिय वर्ण की उत्पति की गयी, जो पृथ्वी पर क्षत्रिय नाम से कहे गये और देव–जगत में इन्द्र, वरूण, सोम, रूद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और

ईशान इत्यादि नामों से कहे गये।[172] फिर भी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों से काम न चला, इसीलिए विश (वैश्य वर्ण) की उत्पति हुई।

अतः अग्नि और विश दोनों शब्दों के उपर्युक्त भावों को समझते हुए, यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद का प्रथम मण्डल बनने तक समाज में आर्थिक संस्थाओं की स्थापना हो गयी थी, जिनको विश कहते थे और वसुमान, ऐश्वर्यवान्, शुद्ध सत्य वाणी बोलने वाले विधि का पालन करने वाले, व्यक्तियों को उन संस्थाओं का विशपति बनाया जाता था।[173]

इस प्रकार समाज अब उस अवस्था में आ गया, जिसका उल्लेख महाभारत के शान्ति पर्व में किया गया है, कि सतयुग में न राजा था, न राज्य, न दण्ड देने वाला और न दण्ड था, समस्त प्रजा ऋत् (धर्म) अर्थात विधियों के पालन से एक दूसरे की रक्षा करती थी।[174]

प्राचीन भारतीय समाज राजनीतिक अवस्था की ओर किस प्रकार शनैः–शनैः अग्रसर हुआ, इसकी रूपरेखा अथर्ववेद में मिलती है। इस प्रकार से अथर्ववेद प्राचीन भारतीय प्रतिनिधि सस्थाओं के पूर्वरूप की महत्वपूर्ण सामग्री जुटाता है। इसी वेद में एक वर्णन मिलता है कि विराट् अवस्था से सर्व प्रथम कुटुम्ब बने और गृह के स्वामी को गृहपति कहा जाता था।[175] इन गृहपतियों में किसी बात को लेकर विचार–विमर्श होता था और इस प्रकार गृहपतियों की सभा में वाद–विवाद के पश्चात् मतभेद दूर किया जाता था। यह अवस्था आह्वनीय कहलाती थी। आहव शब्द का अर्थ है चुनौती। इस प्रकार कुटुम्बीय अवस्था विकसित होकर आहवनीय के रूप में आ गयी। आहवनीय अवस्था ने पुनः उन्नति की और पुनः परिवर्तन हुए। जब परस्पर मतभेद की घटनाएं बढ़ने लगी। तब इस मतभेद को मिटाने का कार्य कुछ योग्य और ईमानदार विद्वानों को सौंप दिया गया। इस अवस्था को दक्षिणाग्नि कहते थे। दक्षिणाग्नि शब्द का अर्थ योग्य अथवा चतुर, सत्य वाणी बोलने वाला मतिमान होता है। इस प्रकार समाज की आहवनीय अवस्था से दक्षिणाग्नि अवस्था का उत्थान हुआ और इसे जानने वाला यज्ञ में पूजनीय और घर में योग्य उत्तम अतिथि हुआ एवं दक्षिणा प्राप्त करने योग्य

हुआ।[176] यह अवस्था भी सभा के रूप में सामने आई और इसे जानने वाले व्यक्ति सभा में पूजनीय हुआ और उसकी सभा में विद्धद्गणों का आगमन हुआ। सभा का अवतार समिति के रूप में हुआ और इससे जानने वाला समिति में प्रतिष्ठित हुआ एवं विद्वान लोग उसकी समिति में उपस्थित हुए। समिति का विकास हुआ तो वह आमंत्रण करता था और यह सभी विद्वानों को स्वीकार्य था।[177]

परन्तु उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्राचीन परिवार, ग्राम, विश, वर्ण–संस्थान, सभा, समिति आदि सामाजिक संस्थाएं किस बिन्दु पर पूरी तरह राजनैतिक संस्थाओं में संक्रान्त हो गई, इसका कोई तिथि–क्रम वेदों में नही है। यद्यपि तिथिक्रम अवश्य रहा होगा। परिवार, ग्राम पंचायत के रूप में और अन्य जन–जातियां गणतन्त्रों के रूप में सैकड़ो वर्षों तक अपनी विकास–यात्रा करती रही होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अन्ततः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीनकाल में सभी संस्थाएं अपनी कार्य–प्रणाली में राजनीति से प्रभावित होने के कारण राजनैतिक संस्थाओं के रूप में परिवर्तित होती रही।

## 2. प्रतिनिधि शासन संस्थाएं : सभा और समिति

वैदिक साहित्य में हम जिन संस्थाओं को प्रशासनिक और राजनैतिक प्रतिनिधि संस्था कह सकते हैं, उनमें सभा–समिति मुख्य थी। अथर्ववेद में इन दोनों संस्थाओ को प्रजापति ब्रह्मा की दुहिता कहा गया है, जो परस्पर एकमत होकर राजा का पालन करती थी और राजा को सही–सही सलाह देती थी।[178] इस कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि यद्यपि सभा और समिति दो भिन्न–भिन्न संस्थाएं थी, परन्तु इनकी संयुक्त बैठक भी कभी–कभी आवश्यक मामलों को यथाशीघ्र तय करने के लिए या किसी खास अवसर के उपलक्ष्य में हुआ करता था।

### सभा

'ऋग्वेद' में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार हुआ है। यह सभा में इकट्ठे लोग और सभा भवन अर्थात सभा स्थल दोनो का प्रतीक है।[179] सभा का शाब्दिक अर्थ चमकना है। इस अर्थ के अनुसार सभा वह है जो चमकती है अर्थात इस संस्था के

सदस्य प्रतिष्ठित होते थे।[180] वी० दीक्षितार का कहना है कि सभा के सदस्य मौलिक रूप से कुलीन ब्राह्मण एवं माधवन हुआ करते थे। जब कभी सभा किसी प्रशासनिक उद्देश्य से बुलाई जाती थी, तब इसमें गिने–चुने लोग अर्थात ब्राह्मणों और गुरुजनों को बुलाया जाता था। इस प्रकार यहां पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सभा नामक संस्था में सभी लोग भाग नहीं ले सकते थे।

सभा के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों में एकमतता नहीं है। इन संस्थाओं के विषय में कुछ विद्वानों का मत है वैदिक आर्य किसी विशेष समस्या के समाधान हेतु विचार करने के लिए जब एकत्र होकर एक स्थान पर बैठते थे तो उनके इस प्रकार एकत्र होने को समिति और जिस स्थान अथवा भवन में वह एकत्र होते थे उसे सभा कहते थे।[181] इस मत के समर्थक हैली ब्रैण्ड माने जाते हैं। डॉ० लुडविक के मतानुसार वैदिक आर्यों की एक महत्वपूर्ण अति पुरातन संस्था थी। उस संस्था के सभा और समिति दो सदन थे। समिति जन–साधारण का सदन और सभा विशिष्ट अथवा उच्च सदन था।[182] डॉ० के० पी० जायसवाल के मतानुसार समिति वैदिक आर्यों की राष्ट्रीय संस्था थी, परन्तु सभा समिति की एक स्थाई उपसमिति थी।[183]

अथर्ववेद के अनुसार सभा का संगठन प्रयाज, अनुयाज, हुतभागा, अहुताद और पंचप्रदिश नामक पांच प्रकार के सदस्यों द्वारा किया जाता था। इन पांच तबकों में प्रत्येक बहुवचनान्त पढ़ा गया है जिससे यह सिद्ध होता है कि एक–एक तबके से अनेक सदस्य भाग लेते थे। वस्तुत पीछे एक प्रसंग में दक्षिणाग्नि की व्याख्या की गई है। जो अथर्ववेद से उद्धृत की गयी है उसमें सभा को समितियों के रूप में विस्तारित होने की बात कही गई है।[184]

सभा या राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव एक वर्ष के लिए होता था और सभा का एक सत्र एक वर्ष का ही होता था।[185] सदस्यों के समुचित आवास की व्यवस्था राजा को करनी होती थी और उन्हें प्रचुर धन भी दिया जाता था।[186]

राज्य सभा के अधिकार और कार्यों का पता उसके स्वरूप संगठन से ही लग जाता है। राज्य सभा को महानग्नि के रूप में वेदों में वर्णित किया गया है और

इसके प्रजातांत्रिक अधिकारों की व्याख्या भी उसी पद्धति से की गई है। इसे अविश्रान्त गति से काम करने वाली शक्ति का स्रोत कहा गया है जो अपनी प्रभुता से प्रजा को तृप्त करती थी; किसी को यह मुक्त करती थी तो किसी को दण्डित करती थी।[187] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल राज्य सभा दो–टूक निर्णय करती थी और उसकी अधिकार–शक्ति असीम थी।

सभा से सम्बन्धित यजुर्वेद में एक उल्लेख मिलता है कि वेदों के विद्वान लोग जिस धन कोश को लाकर जमा करते हैं उसे तुम लोगों (सभासदों) के अधीन किया जा रहा है। यज्ञ के रूप में राष्ट्र की व्यवस्था करने वाला राजा तुम्हारे अनुकूल कार्य करेगा।

राजा की आलोचना करने का भी अधिकार सभा के सदस्यों के पास था। सभा को यह भी अधिकार था कि वह अयोग्य राजा को राजपद से हटा सकती थी।[188] अथर्ववेद में एक अन्य उल्लेख प्राप्त होता है कि उग्र राजा को सभा उसी प्रकार बाहर निकाल सकती थी, जैसे कोई निष्काम जली हुई अंगुलि को काट कर फेंक देता है।[189]

राजा के चुनाव में भी सभा अहम् भूमिका निभाती थी। कुल मिलाकर यह है कि राज्य सभा के अधिकार सबसे ऊपर थे। वह राजा का चुनाव करती थी, राजकोष और सेवा पर अधिकार रखती थी, राजा के कृत्यों पर नजर रखती थी और आवश्यकतानुसार उसकी कटु–आलोचना भी करती थी, राजा को दण्डस्वरूप विच्युत भी कर सकती थी।

## समिति

वेदकालीन संस्थाओं का उल्लेख जिस रूप में वैदिक साहित्य में प्राप्त है उससे यह ज्ञात होता है कि सभा और समिति वैदिक आर्यों की दो मुख्य संस्थाएँ थीं। अथर्ववेद में समिति को सभा की यमज भगिनी और प्रजापति की दुहिता बतलाकर सम्बोधित किया गया है।[190] ऋग्वेद के अन्तिम अध्यायों में 'समिति' का उल्लेख मिलता है। इसका तात्पर्य है कि समिति का महत्व ऋग्वैदिक काल के अंत में या उसके बाद

हुआ। लुडविग के अनुसार 'समिति' अधिक व्यापक सभा थी, जिसमें न केवल सभी जन सामान्य वरन् ब्राह्मण और मघवन् के रूप में ज्ञात धनीमानी लोग भी शामिल होते थे।[91] परवर्ती काल में राजन या राजकुल के लोग भी 'समिति' में जाते थे। वे इस निकाय के अति विशिष्ट सदस्य थे के० पी० जायसवाल का विचार है कि 'समिति' का गठन किसी–न–किसी प्रकार के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर होता था। समिति की कार्यवाही राजनीतिक विषयों तक ही सीमित नहीं थी। उत्तर–वैदिक काल में इसमें दार्शनिक प्रश्नों की भी चर्चा होती थी।

वैदिक कालीन समिति को भी विद्वानों का संघ माना गया है। यह मूल रूप से एक राजनीतिक संस्था थी और इसे केन्द्रीय व्यवस्थापिका माना गया है।[92] समिति के राजनीतिक कार्य काफी स्पष्ट है। राजा 'समिति' द्वारा निर्वाचित होता था। त्सिमट महोदय ने कहा है कि जहां निर्वाची राजतंत्र था। वहां समिति में इकट्ठे विश द्वारा राजा का निर्वाचन होता था।[93] ऋग्वेद में एक उल्लेख मिलता है कि 'समिति' पूर्व–वैदिक काल की राज्य–व्यवस्था का ऐसा अभिन्न अंग थी कि इसके बिना राजा की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, जिस प्रकार से भैंस के लिए वन, सोमरस के लिए घड़ा था, पुरोहितों के लिए याजक महत्वूपर्ण था, उसी तरह राजा के लिए 'समिति' महत्वूपर्ण थी।[94]

समिति का एक अध्यक्ष होता था। समिति के अध्यक्ष को सम्भवतः समितिपति कहते थे। इसी समिति पति की अध्यक्षता में समिति की बैठकें होती थी। अथर्ववेद के एकमंत्र में समिति के सदस्य को समित्य कहकर सम्बोधित किया गया है।[95]

समिति के कार्य क्षेत्र में नए राजा का वरण करना, अनुपयुक्त एवं अयोग्य राजा को राजपद से भ्रष्ट कर उसे निष्कासित करना, निष्कासित राजा का पुनः निर्वाचन, राज्य की नीति का निर्धारण, योजनाएँ बनाना और लागू करना आदि कार्य समिति के अन्तर्गत आते थे।[96]

सभा और समिति की सदस्य संख्या के सम्बन्ध में भी एकता का अभाव है इसका कारण शब्दों का प्रयोग भेद है। जैसाकि 'सभा' शब्द का प्रयोग हमें दो रूपों में

दिखाई देता है। एकरूप मन्त्रिपरिषद् अथवा राजसभा का है जिसमें गिने–चुने सदस्य होते थे और दूसरा रूप राज्यसभा (संसद) का था, जिसमें अनेक समितियां होती थीं और इसीलिए उसे लाघआर्थ मात्र समिति कहने की परम्परा पड़ गई थी। वेदों में किस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है, इसकी कसौटी इनकी सदस्य–संख्या ही मानी जा सकती है।

साधारणतः निष्कर्ष यह है कि वैदिक कालीन सभा और समितियों का संगठन पूरी तरह राजनैतिक था और इनकी चुनाव–पद्धति एवं कार्य–प्रणाली सर्वथा जनतांत्रिक थी। राजा का चुनाव भी आर्थिक संस्थाएं (विश) और ग्राम समितियां (पंचप्रदिश) करती थीं। अतः राजा भी प्रतिनिधि शासक था, जो कभी भी निरंकुश नही हो सकता था। ऐसी दशा में यदि वह राज्य के कार्य–संचालन के लिए मंत्रिपरिषद या राजसभा के नाम पर कोई कार्य–कारिणी चुन लेता था, तो वह भी जनतंत्र के अनुरूप होती थी। जनता के प्रतिनिधि या प्रतिनिधियों द्वारा चुनी हुई संस्था भी जनता की प्रतिनिधि संस्था मानी जाती है। इसलिए सभा–समितियों के अलावा राजसभा जैसी कार्यकारिणी या मन्त्रिपरिषद् भी सर्वथा प्रतिनिधि संस्था थी।

## (3) वैदिक कालीन अन्य संस्थाएँ

वैदिक कालीन अन्य संस्थाओं को उनके कार्यक्षेत्र के आधार पर हम साधारणत तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। कुछ ऐसी संस्थाएं हैं जो राजनैतिक तो हैं परन्तु उनका पूर्ण संकेत वेदों में प्राप्त नही होता 'पौर' और 'जानपद' इसी प्रकार की संस्थाएं हैं। दूसरे प्रकार की संस्थाए वे है जो अपने–आप में राजनैतिक तो नहीं हैं किन्तु राजनैतिक संविधान के साथ जुडी हुई है, 'विदथ' इसी प्रकार की संस्था थी। तीसरे प्रकार की संस्थाएं वे हैं जो राजनीति और उसके संविधान का दार्शनिक रूप प्रस्तुत करती हैं। इडा, सरस्वती और भारती, इसी प्रकार की संस्थाएं थीं। इन तीनों प्रकार की संस्थाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना इस प्रकरण का उदेश्य है।

### पौर-जानपद

पौर और जानपद नामक संस्थाओं का वास्तविक विकास वेदोत्तर काल में

हुआ। परन्तु अपने पूर्वरूप में इनका अस्तित्व वैदिक काल में भी रहा है। ऋग्वेद के उल्लेख के अनुसार इन शब्दों से हमारा अभिप्राय ग्राम और नगर से है।[197] डॉ० जायसवाल का यह स्पष्ट मत है कि वैदिक काल में जो सभा और समितियां सक्रिय थीं वे परवर्ती काल में पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुई, बल्कि उनके स्थान पर दूसरी संस्थाओं का जन्म हो गया। यह पौर–जानपद सभा थी।[198] ग्रीस और इटली के प्राचीन इतिहास में जिन्हें नगर–राज्य कहा जाता था, उन्हीं को प्राचीन भारत में जनपद कहते थे।[199] इस प्रकार प्राचीन भारत में जनपद के दो भाग होते थे–नगर या पुर और जनपद।

प्राचीन भारत की तुलना में आज भी शब्द के अन्त में पुर लगाकर शहर का बोध कराया जाता है। इस प्रकार के गांव या शहर अपनी सुरक्षा और अमन–चैन के लिए अपना संगठन पौर–सभा के रूप में करते थे। पुर के प्रतिनिधि लोग इसके पथ–प्रदर्शक होते थे, ऐसा वर्णन अथर्ववेद में प्राप्त होता है।[200] ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ में पुरजनों के कल्याणार्थ पुरोहितों की उत्पत्ति का उल्लेख है।[201] इसका अर्थ है कि पुरों का राजनैतिक संगठन पौर संस्था के रूप में वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो गया था। डॉ० के० पी० जायसवाल ने कहा है कि पौर संस्था में लगभग सारे दायित्व संक्रमित हो रहे थे। जो वैदिक काल में सभा के माने गए थे।[202]

जनपद की भाँति पौर शब्द का अर्थ भी एक ओर तो राजधानी प्रदेश में रहने वाले लोगों से लगया जाता है और दूसरी और पौर नाम की संस्था से। पौर नाम की संस्था की यमज बहन कही गई है। कहीं–कहीं तो दोनों का प्रयोग साथ–साथ किया गया है और कहीं एक ही शब्द से दोनों का अर्थ लिया है। डॉ० जायसवाल के अनुसार भारतीय और यूरोपीय दोनों का ही लेखकों ने पौर का अनुवाद करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यह संस्था राज्य के समस्त नगरों से सम्बन्ध रखती थी।[203] अनेक शिलालेखों में भी जानपद की तरह 'पौर' शब्द का प्रयोग भी एक संस्था के रूप में किया गया है।

इसी प्रकार जानपद संस्था भी जानपद के निवासियों की प्रशासनिक संस्था थी। इसे भी आधुनिक विद्वानों और इतिहासकारों ने वर्तमान संसद का पूर्वरूप माना

है। एक अन्य विद्वान अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने जानपद संस्था को जिला परिषद का प्रारूप माना है।[204]इसका भी मूल रूप किसी न किसी रूप में वेदों में प्राप्त होता है। जन को भारत कहने की परम्परा का प्रारम्भ ऋग्वेद से हुआ था। अथर्ववेद में राजा को जनों का नेता कहा गया है, यहां जन शब्द प्रजा का पर्याय है, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। फलस्वरूप राजा को जन का रक्षक या स्वामी कहना यह सिद्ध करता है कि राजा किसी संगठित प्रदेश का स्वामी था, जिसे जनपद कहा जाता था।[205] इस प्रकार से राजनैतिक संगठन जनपद संस्था था, जिसका सूत्रपात वैदिक काल में हो गया था। इन संस्थाओं का पौर–जानपद स्वरूप तो वेदोत्तर काल में इनका विकसित रूप था।

## विदथ संस्था

ऋग्वेद से प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है। कि विदथ भी सभा और समिति के समान ही वैदिक आर्यों की एक पुरातन विशेष सार्वजनिक संस्था थी जो विद्या, ज्ञान और यज्ञों से विशेष सम्बन्ध रखती थी।[206] इस संस्था का महत्व इसी से आंका जा सकता है कि जहां 'ऋग्वेद' में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार और समिति का नौ बार हुआ है, वहीं विदथ शब्द का एक सौ बाईस बार उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार 'अथर्ववेद' में सभा शब्द सत्रह बार और समिति शब्द तेरह बार आया है। जबकि विदथ बाईस बार आया है।[207] प्राचीनतम साहित्य में विदथ के उल्लेखों की यह बहुलता इस शब्द को सहज ही ऐसा महत्व प्रदान करती है जिस पर सावधानी से विचार करने की आवश्यकता है।

विदथ शब्द की उत्पत्ति और सिद्धान्त पर अनेक विद्वानों ने भिन्न–भिन्न मत दिए हैं। और विद का अर्थ क्रमशः जानना, धारण करना, विचार करना और होना है, इसलिए विदथ को ज्ञान, स्वत्व और सभा ये तीन अर्थ देना संभव हो सकता है।[208] ओल्डेनबर्ग नामक विद्वान ने 'विदथ' शब्द की मूलधातु विद्या माना है और इसका मूल अर्थ वितरण, निबटाना और अध्यादेश लगाया है तथा व्युत्पत्थ 'यज्ञ' बताया है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र में तीन संस्थाओं का उल्लेख है जिन्हें महर्षि दयानन्द सरस्वती ने धर्मसभा, राजसभा और विद्या सभा का नाम दिया है।[209] इनमें विधा सभा

ही विदथ नामक संस्था थी। प्राचीनकाल में यह शास्त्रार्थ नियोजित करने वाली संस्था थी, जहां वाद–विवाद के आधार पर विद्धता की कोटियों का निर्धारण होता था। शास्त्रार्थ के द्वारा बुद्धिवीरता की निर्णायिका होने के कारण इसे ऋग्वेद में 'सुवीरा' भी कहा गया है।[210]

विदथ के विषय में विद्वानों के विविध मत इस प्रकार हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के साठवें सूक्त के प्रथम मन्त्र के आधार पर मि० जिमट विदथ के स्वरूप पर अपना मत व्यक्त करते हुए इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि विदथ वैदिक समिति की एक उपसमिति थी।[211] मि० राथ के अनुसार विदथ मूल संस्था थी, उसी से समिति, सभा और सेना की उत्पत्ति हुई। मि० हिटनी ने अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के तेरहवें सूक्त के चौथे मंत्र के आधार पर विदथ को एक प्रकार की परिषद बतलाया है।[212] डॉ० आर० एस० शर्मा के मतानुसार विदथ का विशेष सम्बन्ध सेना से था। उसी के अनुसार विदथ सैनिक कार्यों का सम्पादन करने वाली वैदिक संस्था थी।[213]

संक्षिप्त रूप से हम यह कह सकते हैं कि विदथ को एक प्रकार से विधायिका होने का गौरव प्राप्त था और राजा की यह जिम्मेदारी थी कि वह इस संस्था के द्वारा निश्चित किये गये विधि–विधान के अनुसार ही शासन कार्य चलाए।[214]

## इडा, सरस्वती और भारती

इडा, सरस्वती और भारती इन तीनों संस्थाओं का यजुर्वेद में उल्लेख प्राप्त होता है।

तिस्त्रो देवी वर्हिरेवं सदनिवडा सरस्वती भारती महीगृणाना।

(यजु० 27-19)

यहां पर 'वहिः' और 'सदन्तु' शबद इस बात का प्रमाण हैं कि ये संस्थाएं खुले अधिवेशन में विश्वास करती थी और इनकी कार्यविधि सबके सामने स्पष्ट होती थी, वैसे इन तीनों संस्थाओं के कार्य–क्षेत्र अलग–अलग थे। जैसाकि निम्नलिखित मंत्र से सिद्ध होता है :–

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवी : पतिमिन्द्रमवर्धयत्

अस्पृक्षद् भारती दिवं रूद्रै यज्ञं सरस्वती वसुमती

गृहान वसुवने वसुधे यस्य व्यन्तु यज (यजुः 28,19)

अर्थात ये तीनों सभाएं तीन देवियों के समान थीं जो अपने पति स्वरूप राजा इन्द्र की लगातार वृद्धि में लगी रहती थीं। इडा वसु अर्थात धन–सम्पत्ति का रूप थी। जो अपने अर्थ–प्रबन्धकों के साथ राष्ट्र की पालन–विधि में लगी रहती थी। सरस्वती अपने विद्वान शत्रुओं को रूला देने वाले सदस्यों के माध्यम से राष्ट्र की सुरक्षा–व्यवस्था का काम निबटाती थी। इसी प्रकार से भारती का प्रमुख कार्य था कि वह विद्वानों की सहायता से देवलोक के विधि–नियमों में कमी न आने दें। स्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि तीनों संस्थाएं अपने–अपने विभागों का दायित्व निभाती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि संसार का पालन, सहज और दण्ड विधान का दायित्व सम्हालने वाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव की विद्या शक्तियों की प्रतीक इडा, सरस्वती, और भारती नामक संस्थाएं थी। जो मानव शासनतंत्र के लिए भी उतनी ही उपयोगी थी, जितनी इन्द्रलोक के शासनतंत्र के लिए थी। क्योंकि वेदों में देव–जाति और मनुष्य जाति के शासन–तंत्र का संश्लिष्ट चित्रण किया गया है। यह कहा जा चुका है कि आर्य लोगों ने जो जीवन की आदर्श कल्पनाएं की थी उन्हें देवताओं के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया, इसलिए ये संस्थाएं जीवन की दार्शनिकता से परिपूर्ण रही होगीं।

## 4. वैदिक संस्थाओं की निगति

वैदिक काल में प्रतिनिधि संस्थाओं के अन्तर्गत मुख्यतः चार कार्यक्षेत्र आते थे–आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और दार्शनिक। इनमें इडा, सरस्वती, भारती और विदथ नामक संस्थाएं दार्शनिक थीं, जो वैदिक काल के साथ ही लुप्तप्रायः हो गई थीं। आर्थिक संस्थाओं में सर्वोच्च संस्था विश थी। जो रथकार, कर्मकार, कृषक, पशुपालक आदि के विभिन्न रूपों में थी। जैसाकि यथा प्रसंग प्रतिपादित किया जा चुका है। एक बात यहां पर ध्यान देने योग्य यह है कि विश के सम्बन्ध में विद्वानों की सभी अटकलबाजियां समाप्त हो चुकी हैं। अन्ततः विश के बारे में कहा जा सकता है कि यह आर्थिक संस्था थी। इनके प्रतिनिधि सदस्य 'प्रयाजा' और 'अनुयाजाः' के नाम से राज्यसभा में अपनी–अपनी समितियों में बैठते थे। विशों में धनी वर्ग या वैश्यों के

79922

पतिनिधि सदस्य 'प्रयाजाः' कहलाते थे और मजदूर वर्ग के प्रतिनिधि सदस्य 'अनुयाजाः' थे। कुछ समय बाद 'प्रयाजाः' लोगों की विश संस्थाएं निगम आदि के रूप में नामान्तरण कर गई जैसाकि 'श्रेणीमुख्यैः स नैगमैः' जैसे प्रयोगों से ज्ञात होता है। जिस प्रकार 'प्रयाजः' लोग नैगम जैसे नामों से प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार 'अनुयाज' लोगों के छोटे–छोटे आर्थिक समुदाय 'पूग' और 'व्रात' आदि नामों से पुकारे जाने लगे। इसका अर्थ है कि वैदिक काल की आर्थिक संस्थाएं आगे चलकर अपने नारम–रूपों का ही परिवर्तन कर सकी थी, न की अर्थ का जो आज भी अपनी आत्मा में यथावत् विद्यमान है। 'विश' नामक आर्थिक संस्थाओं की निगति इसी रूप में देखी जा सकती है।

सामाजिक संस्थाएं कुटुम्ब के रूप से प्रारम्भ होकर वर्णाश्रम संस्थाओं में फैल गई थीं। मानव समाज का रूपक चित्र विराट् के रूप में खींचा गया था, जिसमें ब्राह्मण को मुख, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को उरू और शूद्र को पैर बताया गया है। वर्णों में समाज का विभाजन मानव की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए किया गया था, क्योंकि ब्राह्मण को बौद्धिक क्षेत्र का, क्षत्रिय को रक्षण का, वैश्य को धर्नाजन का और शुद्र को समाज–सेवा का प्रतीक माना गया था। इसी प्रकार से आश्रम संस्थाएं (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यस्त) भी वर्ग–संघर्ष की कटुता से समाज को बचाती थी। जिस प्रकार भारत के प्राचीन राजवंशों में पिता पुत्र का राज्य के लिए कलह प्रायः कभी नहीं हुआ, क्योंकि भावी युवराज को इसका विश्वास होता था कि उसके युवराज बनने के बाद उसके पिता वानप्रस्थ आश्रम में स्वयं ही राज्य छोड़कर चले जाएंगे।

राजनैतिक संस्थाओं में सभा–समिति, पौर और जानपद जैसी संस्थाएं आती हैं जिनकी वैदोत्तर कालीन निगति इनके स्वरूप के सम्बन्ध में देखी जा सकती है। समिति शब्द का तो प्रयोग भी वेदोत्तर काल में लुप्त हो गया था और सभा शब्द का भी वह अर्थ नहीं रहा जो वैदिक काल में था। राजसभा में भी वैदिक काल के बाद निगति या गिरावट स्पष्ट दिखाई देती है। इसका प्रमुख कारण था, राजपरम्परा वंशानुगत होना, जिसके कारण राजा और उसके सगे–सम्बन्धियों वर्चस्व अधिक बढ़ गया। इसी कारण राजसभा या मन्त्रिपरिषद् अपने आप में कुछ अधिक राजतांत्रिक बन

गई थी जो उनकी जनतांत्रिक क्षति का श्री गणेश था।

यही बात वैदिक कालीन पौर एवं जानपद संस्थाओं के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। यद्यपि परवर्ती युगों की इन संस्थाओं के विकास की रेखाएं अधिकाधिक स्पष्ट हो गयी थीं किन्तु इनका जो मूल रूप वेदों में प्राप्त होता है वह पूरा जनतांत्रिक था। जबकि रामायण–काल से लेकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र और स्मृति ग्रन्थों तक पहुँचकर राजतंत्र का ही अधिकृत विषय बन गया था। इस प्रकार से वैदिक काल और वेदोत्तर काल की उपर्युक्त सीमा–रेखाओं को समझना और विश्लेषण करना आवश्यक है।

## संदर्भ :


1. डॉ० एस० एन० मिश्र : एंशियेण्ट इण्डियन रिपब्लिक, पृ० 240-41
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 24
3. डॉ० श्याम लाल पण्डित : प्राचीन भारत में जनतंत्र, पृ० 1-2
4. डॉ० श्याम लाल पण्डित : वेद कालीन राज्य व्यवस्था, पृ० 5
5. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : वैदिक राजनीति शास्त्र, पृ० 12
6. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : उपर्युक्त, पृ० 87
7. भागवत पुराण 4, 6; पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड 22; स्कन्द पुराण 2,8,7
8. भागवत पुराण 6, 9,10
9. सभा च मासामेतिश्चावतां प्रजापते र्दुहितरो संविदाने अथर्ववेद :– 7,12,1
10. अथर्ववेद : 20,136,11
11. के० पी० जायसवाल : हिन्दु पॉलिटी, पृ० 26
12. रामशरण शर्मा : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ० 56
13. ऋग्वेद : 1,64,12
14. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 157
15. श्री रवीन्द्र नाथ : प्राचीन भारत में समाज–व्यवस्था, पृ० 167
16. डॉ० एस० एन० मिश्र : एंशियेण्ट इण्डियन रिपब्लिक, पृ० 13
17. के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त, पृ० 28
18. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 157
19. उपर्युक्त।
20. अमरकोश : 1,1,11-12
21. अमरकोश : 1, 2, 28
22. अमरकोश : 1,1,35
23. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 163
24. भागवत पुराण 7,17,21
25. अमरकोश : 2,8,4
26. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 165
27. डॉ० डी० आर० भण्डारकर : लैक्चर्स आन एशियेण्ट हिस्टरी ऑफ इण्डिया, पृ० 142
28. के० पी० जायसवाल : हिन्दू पालिटी,, पृ० 23-28

29. डॉ० आर० सी० मजुमदार : कारपोरेट लाइफ इन एशियण्ट इण्डिया , पृ० 223
30. गणानुत्सवसकेतानजयत् सप्त चाण्डव : (महा० सभा० 27,16)
31. ऋग्वेद : 3,27.9
32. के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त, पृ० 35
33. वही, पृ० 23-24
34. डॉ. आर० सी० मजुमदार : उपर्युक्त, पृ० 221
35. डॉ. यू० एन० घोषाल : स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 363
36. महाभारत शान्ति पर्व : 107,14-15
37. महावग्ग : 9,4,1
38. के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त पृ० 40-42
39. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त पृ० 161
40. डॉ० बी० के० सरकार : दी पालिटीकल इंस्टीट्यूशन एण्ड थियरिज आफ दी हिन्दूज, पृ० 33
41. डॉ० एस० एन० मिश्र : उपर्युक्त, पृ० 13
42. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा : प्राचीन भारत में सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं पृ० 193
43. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा : उपर्युक्त पृ० 199
44. ऋग्वेद : 10,43,18
45. ऋग्वेद : 10,124,8
46. अथर्ववेद : 3,4,1
47. डॉ० श्यामलाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 87
48. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा : उपर्युक्त पृ० 193
49. यजुर्वेद : 20, 25
50. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी : प्राचीन हिन्दू राज्य शास्त्र, पृ० 66-67
51. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त पृ० 163
52. वही, उपर्युक्त पृ० 164
53. देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतंत्र पृ० 27
54. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त पृ० 162
55. वाल्मीकि : रामायण, उत्तर० काण्ड, 176,37
56. डॉ० एस० एन० मिश्रा :उपर्युक्त, पृ० 231

29. डॉ० आर० सी० मजुमदार : कारपोरेट लाइफ इन एशियण्ट इण्डिया , पृ० 223
30. गणानुत्सवसकेतानजयत् सप्त चाण्डव : (महा० सभा० 27,16)
31. ऋग्वेद : 3,27.9
32. के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त, पृ० 35
33. वही, पृ० 23-24
34. डॉ. आर० सी० मजुमदार : उपर्युक्त, पृ० 221
35. डॉ. यू० एन० घोषाल : स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 363
36. महाभारत शान्ति पर्व : 107,14-15
37. महावग्ग : 9,4,1
38. के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त पृ० 40-42
39. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त पृ० 161
40. डॉ० बी० के० सरकार : दी पालिटीकल इंस्टीट्यूशन एण्ड थियरिज आफ दी हिन्दूज, पृ० 33
41. डॉ० एस० एन० मिश्र : उपर्युक्त, पृ० 13
42. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा : प्राचीन भारत में सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं पृ० 193
43. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा : उपर्युक्त पृ० 199
44. ऋग्वेद : 10,43,18
45. ऋग्वेद : 10,124,8
46. अथर्ववेद : 3,4,1
47. डॉ० श्यामलाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 87
48. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा : उपर्युक्त पृ० 193
49. यजुर्वेद : 20, 25
50. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी : प्राचीन हिन्दू राज्य शास्त्र, पृ० 66-67
51. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त पृ० 163
52. वही, उपर्युक्त पृ० 164
53. देवीदत्त शुक्ल : प्राचीन भारत में जनतंत्र पृ० 27
54. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त पृ० 162
55. वाल्मीकि : रामायण, उत्तर० काण्ड, 176,37
56. डॉ० एस० एन० मिश्रा :उपर्युक्त, पृ० 231

85. डॉ० के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त, पृ० 127
86. डॉ० देवीदत्त शुक्ल : उपर्युक्त, पृ० 60-81
87. डॉ० अल्लेकर : स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियेण्ट इंडिया, पृ० 36-40
88. डॉ० उदयशंकर पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 109
89. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : उपर्युक्त, पृ० 170
90. डॉ० देवीदत्त शुक्ल : उपर्युक्त, पृ० 81
91. डॉ० के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त, पृ० 345
92. डॉ० रवीन्द्र नाथ : प्राचीन भारत में समाज व्यवस्था, पृ० 122
93. डॉ० के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त पृ० 207
94. ऋग्वेद 1, 53, 9, अथर्ववेद 20,21,9
95. ऋग्वेद 7,18,14
96. वाजसनेयी संहिता 9, 40, मैत्रीय स०, 18, 10
97. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : वेदकालीन राज्य व्यवस्था, पृ० 102-03
98. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : उपर्युक्त, पृ० 160
99. वही, पृ० 161
100. अथर्ववेद : 3,4,2
101. शतपथ ब्राह्मण, पृ० 1, 3, 1, 2-6
102. डॉ० शिवदत्त ज्ञानी : वेदकालीन समाज, पृ० 211
103. डॉ० देवीदत्त शुक्ल, उपर्युक्त पृ० 17
104. अथर्ववेद : 6, 10, 1 तथा 6, 98, 1
105. ऋग्वेद 7, 27, 3
106. ऋग्वेद 3, 55, 7
107. अथर्ववेद : 16, 37, 2
108. ऋग्वेद 8, 44, 16
109. सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारत की शासन–संस्थाएं और राजनीतिक विचार, पृ० 37-40
110. महर्षि वेद व्यास : महाभारत, शान्तिपर्व, 68, 54
111. ऋग्वेद 7, 64, 2
112. ऋग्वेद 8, 44, 16
113. ऋग्वेद 2, 41, 5

114. ऋग्वेद 7, 1, 4
115. रामशरण शर्मा : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृ० 68-69
116. डॉ० हरिश्चन्द्र शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 430
117. वही।
118. ऋग्वेद 10, 124, 8
119. ऋग्वेद 4, 42, 8
120. ऋग्वेद 1, 70, 73
121. डॉ० हरिश्चन्द्र शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 430-31
122. प्रो० अल्लेकर : उपर्युक्त, पृ० 75-76
123. अथर्ववेद : 3, 4, 2
124. डॉ० यू० एन० घोषाल : स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर, पृ० 343
125. अथर्ववेद : 3, 4, 3
126. ऋग्वेद 10, 173,1
127. ऐतरेय ब्राह्मण : 8, 2, 7
128. सत्यकेतु विद्यालंकार : उपर्युक्त, पृ० 47
129. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 68
130. सत्यकेतु विद्यालंकार : उपर्युक्त, पृ० 52
131. वही।
132. ऐतरेय ब्राह्मण : 8, 4, 15
133. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 69
134. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी : हिन्दु राज्य शास्त्र, पृ० 66-67
135. ऋग्वेद 8, 79, 4
136. ऋग्वेद 10, 321, 3
137. ऋग्वेद 7,64,2
138. ऋग्वेद 10, 157, 4
139. महर्षि वाल्मीकि : रामायण उत्तर० 16, 37
140. महर्षि वेदव्यास : महाभारत, शान्ति पर्व 89, 10
141. महर्षि वाल्मीकि : रामायण, (हि० अनु०) अध्याय– 145
142. डॉ० हरिश्चन्द्र शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 43
143. अथर्ववेद : 20, 74, 1

144. ऋग्वेद 10, 10, 6
145. अथर्ववेद : 5, 19, 15
146. अथर्ववेद : 20, 136, 7-13
147. महर्षि वाल्मीकि : रामायण, युद्ध काण्ड 115, 14
148. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी : हिन्दु राज्य शास्त्र पृ० 66-67
149. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 128
150. वही, 132
151. आर० डी० मुखर्जी : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 441
152. वही।
153. डॉ० हरिश्चन्द्र शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 85
154. डॉ० रवीन्द्र नाथ : प्राचीन भारत समाज व्यवस्था, पृ० 119
155. ऋग्वेद 1,10,1
156. ऋग्वेद 10, 109, 4
157. अथर्ववेद : 5, 17, 3
158. यजुर्वेद : 26, 9
159. म० वेदव्यास : महाभारत, शान्ति पर्व, 3, 29
160. ऋग्वेद : 10, 47, 6
161. म० वेदव्यास : महाभारत, 80, 26-27
162. डॉ० देवीदत्त शुक्ल : उपर्युक्त, पृ०, 48
163. डॉ० के० पी० जायसवाल : हिन्दू–पालिटी, पृ०, 127-128
164. डॉ० कपिलदेव द्विवेदी : उपर्युक्त पृ०, 169-70
165. म० वेदव्यास : महाभारत, शान्ति पर्व, 59, 14
166. डॉ० देवीदत्त शुक्ल : उपर्युक्त पृ०, 35
167. ऋग्वेद : 1, 1, 1
168. डॉ० देवीदत्त शुक्ल : उपर्युक्त, पृ०, 35
169. श्री रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ०, 84
170. ऋग्वेद : 1, 10, 1
171. ऋग्वेद : 1, 17, 3
172. ऋग्वेद : 1, 31, 11
173. ऋग्वेद : 1, 31, 11

174. डॉ० देवीदत्त शुक्ल : उपर्युक्त, पृ०, 38
175. सत्यकेतु विद्यालंकार : उपर्युक्त, पृ०, 50-52
176. म० वेदव्यास : महाभारत, शान्ति पर्व, पृ०, 59, 14
177. डॉ० देवीदत्त शुक्ल : उपर्युक्त, पृ०, 40
178. अथर्ववेद : 3, 4, 2
179. अथर्ववेद : 8, 10, 1
180. अथर्ववेद : 7, 12, 1
181. रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ०, 99
182. डॉ० हरिश्चन्द्र शर्मा : उपर्युक्त, पृ०, 368
183. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ०, 136
184. वही।
185. के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त, पृ०, 18
186. अथर्ववेद : 8, 10, 9-11
187. अथर्ववेद : 7, 77, 3
188. अथर्ववेद : 20, 136, 5
189. एंत सघस्थ परि ते ददामि मकावेहच्छेवधि जानवेदा :
अन्वागन्ता यज्ञपति र्वोसु अंत्ततस्य जानीत परमेत्योमन् (यजुर्वेद : 18, 59)
190. अथर्ववेद : 20, 15, 4
191. अथर्ववेद : 20, 136, 13
192. अथर्ववेद : 1, 14, 7
193. डॉ० रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 104
194. के० पी० जायसवाल : उपर्युक्त, पृ०, 15
195. सत्यकेतु विद्यालंकार : उपर्युक्त, पृ०, 321
196. डॉ० रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 106
197. डॉ० रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 106
198. अथर्ववेद : 11, 10, 8
199. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 153
200. ऋग्वेद : 1, 53, 7, 8
201. डॉ० हरिश्चन्द्र शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 327

202. सत्यकेतु विद्यालंकार : उपर्युक्त, पृ०, 218
203. अथर्ववेद : 7, 8, 1
204. ऐतरेय ब्रा० : 8, 5, 25
205. डॉ० के० पी० जायसवाल : हिन्दु राजतंत्र, पृ०, 200-210
206. डॉ० हरिश्चन्द्र शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 328
207. अम्बिका प्रसाद वाजपेयी : हिन्दु राज्यशास्त्र, पृ० 208
208. अथर्ववेद : 4, 22, 5
209. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 154
210. डॉ० रामशरण शर्मा : प्राचीन भारत में राजनीति विचार एवं ससंस्थाएं, पृ० 84
211. डॉ० रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 91
212. ऋग्वेद : 3, 38, 6
213. ऋग्वेद : 2, 1, 16
214. मैक्डानेल एण्ड कीथ : वैदिक इंडेक्स, पृ० 199
215. डॉ० श्याम लाल पाण्डेय : उपर्युक्त, पृ० 154
216. डॉ० रामशरण शर्मा : उपर्युक्त, पृ० 100-105
217. ऋग्वेद : 3, 38, 5
218. डॉ० ए० एस० अल्तेकर : उपर्युक्त, पृ० 35
219. डॉ० बेनीप्रसाद : दि स्टेट इन ऐन्शेण्ट, पृ० 24